ॐ श्री परमात्मने नमः

त्रयोदश अध्याय

विद्वानों ने गीता को तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम छः में कर्म का निरूपण हुआ है, सातवें से बारहवें में भक्ति का विवेचन हुआ है। बारहवें अध्याय में भक्ति के पाठ को पूर्ण कर अब भगवान ज्ञान के सूत्र को पकड़ कर ब्रह्म का निरूपण करेंगे जिसके विषय में पहले भी संकेत दे चुके हैं। आठवें अध्याय में भी अक्षर ब्रह्म के विषय में काफी कुछ कहा था अब वे सुनियोजित तरीके से विस्तारपूर्वक इसका विवेचन करेंगे।

गीता को और एक तरीके से विभाजित किया गया है। कहते हैं कि गीता के अठारह अध्याय उपनिषद् महावाक्य तत् त्वम् असि का निरूपण करते हैं। पहले छः अधयाय में भगवान ने त्वम् अर्थात् जीव के विषयमें बताया था, अगले छः अध्याय में तत् अर्थात् ईश्वर का निरूपण किया। अब इस अध्याय से वे असि शब्द बता रहे हैं अर्थात् जीव ब्रह्म के एकत्व की बात बता रहे हैं।

बारहवें अध्याय में भक्ति की ही बात मुख्यतः दी गई है। केवल तीसरे और चौथे श्लोक में अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त ब्रह्म की उपासना करने वालों की परम गति बताते हुए पांचवें में भगवान ने एक 'परन्तु' लगा दिया। उन्होंने कहा कि देहाभिमानियों के लिए अव्यक्त की उपासना अत्यन्त कठिन है।

लेकिन कठिन का अर्थ यह नहीं कि भगवान उसकी चर्चा अधूरी छोड़ दें। उन्हें तो अर्जुन के माध्यम से सभी प्रकार की प्रकृति वालों को सत्य की राह बतानी है। अतः सगुण भक्ति की बात पूरी करके अब वे निर्गुण की उपासना अर्थात् ब्रह्म के ज्ञान का सूत्र पकड़ लेते हैं। देहाभिमान क्या है और वह किस प्रकार सत्य के ज्ञान में बाधक है यह हम इस तेरहवें अध्याय के अध्ययन में अच्छी तरह समझेंगे।

मोटे तौर पर हम सभी जानते हैं कि हमारा शरीर पदार्थों से बना है जो स्वयं कोई कर्म नहीं कर सकते। यह देह इसलिए कर्म कर पाती है क्योंकि इसमें जीवन तत्व अर्थात् चेतना यानी आत्मा है। आत्मा के कारण ही शरीर कार्य कर सकता है। साथ ही आत्मा भी तभी कार्य कर सकती है जब शरीर का माध्यम मिले। आत्मा और शरीर का संयोग ही जीवन की सृष्टि करता है। इस अध्याय में शरीर और आत्मा के स्वरूप और कार्य विधि को स्पष्ट करने के लिए नाम दिए गए हैं- क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति और पुरुष। क्षेत्रज्ञ पर क्षेत्र का आवरण ही सारे भ्रम, सारे माया-मोह पैदा करता है जिसके कारण मनुष्य दुखी है, संसार के बंधन से बंधा हुआ है। इस बंधन को खोलना है तो क्षेत्र को हटा कर क्षेत्रज्ञ को जानना होगा। ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ब्रह्म से युक्त करने का साधन बन जाता है अत: इस अध्याय को क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग नाम दिया गया है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को अलग-अलग जानना ही दुखों से निवृत्ति करा सकता है अत: वही सच्चा ज्ञान है। हम यदि अपने बचपन से वृद्धावस्था तक का जीवन देखें तो बचपन में शरीर कोमल था, मन अत्यंत चंचल, बुद्धि अतिशय जिज्ञासु। जैसे-जैसे युवावस्था आई, शरीर पुष्ट होता गया, मन कठोर, बुद्धि तीक्ष्ण। अब बुढ़ापे में शरीर दुर्बल हो रहा है, मन चिंतामग्न रहता है, बुद्धि सठियाती जा रही है। इन विभिन्न रूपों में मैं तो वही हूं। मैं इन सब परिवर्तनों को समझ-बूझ पा रहा हूं अत: मैं इनका ज्ञाता हूं। मैं सब दृष्यों का द्रष्टा हूं, मैं भोगों का भोक्ता हूं। यह अपने तत्व का सही निरूपण हुआ किन्तु यह सही निरूपण तो केवल हम शास्त्र-चर्चा के समय अल्प काल के लिए ही कर पाते हैं।

व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाता। बच्चे में, जवान में, बूढ़े में, सुख में, दुख में, हम जिस अवस्था में होते हैं उसमें ऐसे खो जाते हैं कि उपरोक्त विचार द्वारा अपने को अलग नहीं कर पाते। भूख लगती है तो हम यह नहीं मान पाते कि शरीर ने भोजन की मांग की है। हम समझते हैं- मैं भूखा हूं। शरीर की मांग मन, बुद्धि, चित्त अहंकार तक पहुंच जाती है- 'मैं इतनी बड़ी सम्पत्ति का स्वामी था और आज यह स्थिति है कि भूख से तड़प रहा हूं। कितने दु:ख की बात है! लज्जा आती है मुझे, जीना व्यर्थ है मेरा ... आदि-आदि

विचारों के द्वारा हम अपने आप को शरीर से अलग नहीं कर पाते। दृष्य में खो जाता है द्रष्टा। ज्ञेय में खो जाता है ज्ञाता।

यही देहाभिमान है, इसे ही तादात्म्यता कहते हैं और जो मैं नहीं हूं उसके साथ तादात्म्यता ही मेरे समस्त दुखों का मूल है क्योंकि भूल भरी तादात्म्यता के कारण मेरा व्यवहार वैसा नहीं होता जैसा होना चाहिए।

हम सिनेमा देखते हैं तो ऐसे डूब जाते हैं उसमें कि हीरो को किसी ने डंडा मारा तो हम अपनी कुर्सी पर बचने की मुद्रा में शरीर हिलाने लगते हैं। वह बाल-बाल बच गया तो हम भी चैन की सांस लेते हैं। इसीलिए जब उसकी प्रेमिका मर जाती है तो हमारी आंखों से भी टप-टप आंसू गिरने लगते हैं। यह दु:ख हमें हीरो के साथ तादात्म्यता करने से मिला। यदि हम इसे खेल मानकर ग्रहण कर पाएं तो मरने का दृष्य देख कर भी प्रसन्न हो कर कहेंगे- वाह क्या जीवन्त अभिनय है।

इसी तादात्म्यता जनित सांसारिक दुखों और भव बन्धनों से छूटने का उपाय है ज्ञान, जो हम इस अध्याय में पाएंगे।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१।।

हे कौन्तेय, इस शरीर को क्षेत्र कहा गया है। जो इसे (शरीर को) जानता है उसे विद्वान जन क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

शरीर के नाम तो हैं ही- देह या तन। फिर भी भगवान ने एक नये नाम का उपयोग किया है। और यह भी कह दिया कि यह नाम मेरा दिया हुआ नहीं है। समस्त ज्ञानी जन शरीर को क्षेत्र कहते हैं।

क्षेत्र नाम का एक विशेष अर्थ है। क्षेत्र का अर्थ खेत होता है। जिस प्रकार खेत में तरह-तरह के बीज डाले जाते हैं और तरह-तरह के फल-फूल, अनाज आदि पाए जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य शरीर द्वारा भिन्न-भिन्न कर्म किए जाते हैं। इन कर्मों के संस्कार बीज रूप में अन्त:करण में पड़ कर तरह-तरह

के फल, परिस्थितियां आदि पैदा करते हैं। शरीर में किए गए कर्मों के फलस्वरूप ही विभिन्न जन्म-मरण के फल की उत्पत्ति के कारण शरीर को विद्वानजन क्षेत्र कहते हैं।

क्षेत्र का एक और भाव है। गुप्ता जी एक बड़े ऑफिस में मैनेजर हैं और उन्हें फुटबॉल खेलने का बड़ा शौक है। ऑफिस उनका कार्य क्षेत्र है जहां वे ऑफिसर कहलाते हैं, ऑफिसर के रूप में काम करते हैं। तब लोग उन्हें मैनेजर साहब कहते हैं। लेकिन वही मैनेजर गुप्ता खेल के मैदान में खिलाड़ी बन जाता है। यह उसका खेल क्षेत्र है जहां वह खिलाड़ी के रूप में अभिव्यक्त है।

इसी प्रकार परमात्मा भी जब अभिव्यक्त होकर कार्य करता है तो इस शरीर में ही कार्य करता है। यह शरीर परमात्मा का कार्य क्षेत्र है और जैसे ऑफिस में प्रवेश करते ही गुप्ता जी मैनेजर साहब बन जाते हैं उसी प्रकार शरीर रूपी क्षेत्र में प्रवेश करते ही परमात्मा जीवात्मा कहलाने लगता है। वह क्षेत्र में होते हुए सभी कार्यों को देखने-समझने-जानने वाला है अत: उसे क्षेत्र के संदर्भ में क्षेत्रज्ञ नाम दिया गया है।

मुझसे कोई पूछे कि तुम कौन हो तो मैं कहूंगी मैं अमुक की पुत्री हूं। किसी दूसरे को कह दूंगी मैं अमुक की पत्नी हूं। किसी बच्चे से मिली तो कह दूंगी मैं अमुक की मां हूं। ये तीनों परिचय सत्य हैं। पर तीनों अपने आप में पूर्ण नहीं। इस प्रकार के तीन ही क्यों, अनेकों-अनेकों परिचय हो सकते हैं मेरे, जो विभिन्न संदर्भों में विभिन्न व्यक्तियों को दिए जाते हैं।

फिर मैं वह क्यों हूं जो मैं हूं? क्योंकि मैं अपने इन सब परिचयों को जानती हूं। और कोई भी मेरे कार्य, मेरी कार्य शैली, मेरी विचार प्रक्रिया को सम्पूर्ण रूप में नहीं जान सकता। सिर्फ मैं ही जानती हूं उन्हें और इन सबका सम्मिलित रूप है जिसे मैं कहती हूं- मेरा व्यक्तित्व। यानी एक पुत्री, एक पत्नी, एक मां होते हुए भी मैं इनसे परे एक व्यक्तित्व हूं जो अपनी इन विभिन्न भूमिकाओं को निबाहते वक्त विभिन्न नाम या पद धारण कर लेता है। क्षेत्र के संबंध में यही भूमिका क्षेत्रज्ञ की है।

यहां भगवान ने इदं शरीरं अर्थात् 'यह शरीर' कहा है। जब हम किसी वस्तु या व्यक्ति के लिए 'यह वस्तु' या 'यह व्यक्ति' शब्द का व्यवहार करते

हैं तो स्पष्ट होता है कि वह हमसे भिन्न है। अपने लिए 'यह मैं' कभी नहीं कहा जाता है। 'इदं शरीरं' शब्द में सूत्र रूप से देह की आसक्ति या देहात्मभाव त्यागने का भाव छुपा हुआ है।

हमें तो बचपन से देह को ही 'मैं' मानने, इसलिए देह को ही पालने-पोसने, संवारने, सजाने, मोटा करने की शिक्षा मिलती है। इसी में हम इतने मग्न रहते हैं कि इस देह के भीतर जो भी बैठा है, जो सार है, तत्व है -आत्मा, इस पर दृष्टि जाती नहीं। हमारी स्थिति तो डाइनिंग टेबल पर सजावट के लिए लगाई गई शाक-सब्जी, फल की भांति है। आज कल उनके द्वारा सजावट करने लिए विभिन्न युक्तियां काम में ली जाती हैं। उन्हें रंग कर, विभिन्न स्टाइल से काट कर, उनमें पिन, कांटे आदि घोंप-घोंप कर उन्हें आकर्षक तो बहुत बना लेते हैं पर अन्दर का रसीला गूदा बेकार हो जाता है। भगवान कहते हैं- तुम केवल छिलका नहीं हो, अपने अन्दर के रस को पहचानो। शरीर इदम् है उसे अहम् मत मानो।

शरीर को क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ बताने के बाद वे आत्मा के विषय में एक और तथ्य प्रकाश में लाते हैं-

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।२।।

हे भारत! सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मैं हूं यह जानो। मेरे मत में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जानना ही ज्ञान है।

मैं देह नहीं हूं, आत्मा हूं। मैं क्षेत्र नहीं हूं क्षेत्रज्ञ हूं। यह जानना तो आवश्यक है ही, इसके साथ यह भी जानना आवश्यक है कि मेरे शरीर का क्षेत्रज्ञ भी वही है जो गोपाल के शरीर का और वही क्षेत्रज्ञ मीरा के शरीर का है। अर्थात् सभी के शरीर में स्थित जीवात्मा एक ही है और वही परमात्मा है।

हम परमात्मा को एक ओर सर्वव्यापी के साथ-साथ विभक्त न होने वाला भी मानते हैं और दूसरी ओर यह भी कह देते हैं कि वह जीवात्मा

के रूप में शरीर में स्थित है जिसके कारण शरीर में जीवन है। एक ओर हम कहते हैं परमात्मा अकर्ता है दूसरी ओर यह भी कह देते हैं कि शरीर का कर्ता आत्मा है। एक ओर हम कहते हैं कि परमात्मा सर्वथा निर्लिप्त है दूसरी ओर कह देते हैं कि शरीर के कर्मो के कारण बने संस्कारों और वासनाओं के मल का लेप होता है जिसे दूर करने के लिए ही आत्मा विभिन्न योनियों में विभिन्न देह धारण करती है।

जब सबके कर्म और वासनाएं अलग-अलग हैं तो वे सब आत्माएं एक कैसे हो सकती हैं? जब परमात्मा अविभक्त है तो वह अलग-अलग देहों में बंटता कैसे है? यदि वह निर्लिप्त है तो वासनाओं का मल उसे देह धारण के लिए कैसे बाध्य कर देता है?

ये सब बातें इसलिए विरोधाभासी जान पड़ती है क्योंकि हम शब्दों द्वारा उसे व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं जो अनिर्वचनीय है। बुद्धि द्वारा उसे जानने का प्रयत्न कर रहे हैं जो मन बुद्धि के परे है। पर दूसरा कोई साधन भी तो नहीं हमारे पास। अतः थोड़ा बहुत बुद्धि की सामर्थ्य के अनुसार जानना भी आवश्यक है। हम एक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयत्न करें।

आकाश सर्वव्यापी है, इसे विभक्त नहीं किया जा सकता। किंतु इसी आकाश में हम एक लकड़ी का डब्बा रख दे, उसके पास एक गोल मटका रख दें, नजदीक ही मिट्टी की एक झोपड़ी बना दें तो डब्बे का आकाश, मटके का आकाश और झोपड़ी का आकाश अलग-अलग जान पड़ेगा। उनका आकार भी भिन्न है आकृति भी। पर आकाश विभक्त हो कर उनमें घुसा नहीं है। यह विभाजन तो सर्वव्यापी आकाश को लकड़ी या मिट्टी से घेर देने के कारण उत्पन्न हुआ भ्रम है। इसी प्रकार डब्बे में इत्र रख दिया जाए और मटके में सड़ा हुआ फल हो तो डब्बे का आकाश सुगंधित और मटके का आकाश दुर्गन्ध पूर्ण लगने लगेगा पर वास्तव में आकाश के अणु परमाणुओं को कुछ हुआ नहीं है। उनमें इत्र आदि के अणु परमाणु मिल गए इसलिए उनके सुगन्धित दुर्गन्धित होने का भ्रम पैदा हो गया। यदि डब्बे को तोड़ दिया जाए, मटके को फोड़ दिया जाए, झोपड़ी को गिरा दिया जाए तो आकार देने वाली उपाधियां लुप्त होते ही सारे छोटे छोटे आकाश सर्वव्यापी महाकाश से मिल कर एक हो जाएंगे।

जीवात्मा जीव में प्रवेश नहीं करती, न शरीर छोड़ कर जाती है। अनन्त सर्वव्यापी परमात्मा शरीर मन बुद्धि की उपाधियों से घिर कर एक अंश जैसा लगने लगता है। शरीर से परे जीवात्मा है यह जानना आवश्यक है पर ज्ञान तब पूर्ण होगा जब यह जानेंगे कि जीवात्मा ही परमात्मा है।

भगवान कहते हैं कि क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही मेरे मत में ज्ञान है, अर्थात् उपरोक्त तर्क आदि तो बुद्धि को बहलाते भर है। ये जितने प्रश्नों का समाधान करते हैं उससे दुगुने प्रश्नों को जन्म देते हैं अत: उससे लाभ कुछ भी नहीं होता। इन तर्कों को ज्ञान नहीं समझा जाना चाहिए। पुस्तक का ज्ञान जब कर्म के रूप में व्यवहार में आता है तब उसे अनुभव होता है। वही वास्तविक ज्ञान है।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के बारे में गीता में विस्तार से पढ़ जान कर भी व्यवहार में हम देह को ही 'मैं' मानते रहें, किसी की हल्की सी गाली से चोट खा कर पीड़ा से तड़पते रहे तो यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को पृथक् जानना कहां हुआ? अत: देहात्म भाव से ऊपर उठना तत्व ज्ञान है जिसका निरूपण भगवान आगे करेंगे।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे श्रृणु ।।३।।

वह क्षेत्र जैसा है, जैसे स्वभाव वाला है, जिन विकारों वाला है, जिससे पैदा हुआ है तथा इसका जो प्रभाव है वह तुम मुझसे संक्षेप में सुनो।

भगवान ने इस श्लोक में उन सब बातों का सारांश दे दिया है जो वे क्षेत्र के विषय में इस अध्याय में बताने जा रहे हैं।

केवल सिद्धान्तों का ज्ञान हमें ज्ञानी नहीं बना सकता पर सिद्धान्त ज्ञान हो तो उन्हें व्यवहार में लाने का प्रयत्न किया जा सकता है। अभी तक तो हमने 'शरीर मैं नहीं, शरीर तो मेरा है' कि दिशा में कभी सोचा ही नहीं। अब सोचना आरम्भ करने के लिए कुछ तो सूत्र चाहिए। भगवान इस अध्याय में बताएंगे कि शरीर का स्वरूप कैसा है। हम तो केवल हाड़ मांस के बने

पिंड को ही शरीर समझते है पर वे संक्षेप में विस्तार भी करेंगे। वे यह भी बताएंगे कि प्रकृति कैसी है, इसमें कैसे कैसे परिर्वतन आते हैं, उनका क्या प्रभाव पड़ता है आदि। इन जानकारियों को प्राप्त कर जब उसके अनुसार विचार प्रक्रिया को बदलेंगे तो वह अध्यात्म ज्ञान होगा वर्ना शरीर के बारे में तो बहुत विस्तार से हम स्कूल कॉलेज में जीवशास्त्र की पुस्तकों में पढ़ते ही आ रहे हैं।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।४।।

(क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का तत्व) ऋषियों द्वारा विभिन्न छन्दों में गाया गया है। साथ ही ब्रह्म का सूत्र देने वाले पदों में युक्तियुक्त और निश्चित तरीके से बताया गया है।

गीता भगवान के मुख से अर्जुन को निमित्त मान कर कही गई वाणी अवश्य है किन्तु भगवान बारम्बार यह कहते हैं कि मैं वही कह रहा हूं जो ऋषियों ने उपनिषदों में कहा है। सत्य तो एक ही है अतः सभी धर्म ग्रन्थों, सभी धर्म प्रचारकों या संतों द्वारा मूल बात एक ही कही जाती है किन्तु इन महात्माओं का काल अलग अलग रहता है, उनके शिष्यों की परिस्थितियां तथा बौद्धिक क्षमताएं अलग अलग होती है अतः देश काल परिस्थिति के अनुसार उस सत्य को प्रस्तुत करने का तरीका बदल जाता है।

गीता की पृष्ठभूमि अत्यन्त रोमांचक और हलचल भरी थी। शिष्य अत्यन्त मेधावी, जिज्ञासु, कर्मठ किंतु बहुत ही शोकाकुल, तथा अस्थिर, अशांत था जैसे आज का शिक्षित, कर्मठ, कुंठित युवा। अतः गीता की अपनी विशिष्ट शैली है परन्तु भगवान स्पष्ट कर रहे हैं कि ये सब अर्जुन के लिए उनके द्वारा गढ़ी गई बातें नहीं। वे तो यहां संक्षेप में ही बता रहे हैं, ऋषियों ने तो सैकड़ों हजारों वर्ष पूर्व इन्हें गाया है।

गीता भी गान ही है। भगवद्गीता का अर्थ ही है भगवान के द्वारा गाया गया गान। गाना तभी निकलता है जब हम आनन्द में होते हैं। प्रेमिका

की याद में दुखी हो कर तो केवल फिल्मों में ही गाया जाता है। ऋषियों ने तप साधना आदि के द्वारा जब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ की पृथक्ता को जाना अर्थात् जब वे देहाभिमान से पूर्णतः मुक्त हो पाए तब आनन्द उल्लास का उनका अपना अनुभव विभिन्न छन्दों के साथ गान के रूप में बह निकला। वेदों के ये संगीत भरे छन्द तो परम आनन्द की सहज अभिव्यक्ति है। इनके अलावा ऋषियों ने कुछ पदों की भी रचना की है जिनमें अत्यन्त युक्तियुक्त ढ़ंग से ब्रह्म को इंगित करने वाले सूत्र दिये हैं। इन्हें ब्रह्म सूत्र कहते हैं और ये निश्चय के साथ ब्रह्म का निरूपण करते हैं।

वैसे तो ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका श्रद्धा की होती है। श्रद्धा की अनुपम पूंजी हो तो साधक जितनी जल्दी सफलता प्राप्त कर सकता है उसकी कोई तुलना ही नहीं। किंतु बुद्धिवादियों की श्रद्धा जागती नहीं जल्दी। अन्य धर्मों में तो फिर भी साधना सम्बन्धी निर्देश पैगम्बर या मसीहा द्वारा अपनी ओर से बताए गए हैं किंतु हमारे धर्म में तर्क को पूरा स्थान दिया गया है। युक्ति द्वारा तत्व ज्ञान बताया गया है। इस प्रकार जब हम बौद्धिक रूप से आश्वस्त हो जाते हैं तब श्रद्धा का जो सैलाब है वह भव बन्धनों को तुरंत ही छिन्न भिन्न कर देता है।

यहां एक भाव और है भगवान का। वे कहना चाहते हैं कि मैं तो तुम्हें संक्षेप में ही बताऊंगा पर जो मैं कहूंगा उसका विस्तार ब्रह्मसूत्र में मिल सकता है। हम भी यहां भगवान के शब्दों के संदर्भ में उपनिषदों में जो बताया गया है उसे देखने का प्रयत्न करेंगे।

क्षेत्र के अन्तर्गत क्या आता है यह बताते हुए भगवान कहते हैं-

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।५।।

महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (वासना) दस इन्द्रियां, एक (मन) तथा पांच इन्द्रिय गोचर अर्थात् इन्द्रियों के विषय।

क्षेत्रज्ञ के कार्य क्षेत्र भगवान ने इस श्लोक में बताए हैं। इसमें क्रम

को कुछ बदल कर हम एक-एक का थोड़ा विस्तार समझें।

पंच इन्द्रिय गोचर का अर्थ वे वस्तुएं हैं जिनमें हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियां विचरण करती है। ये हैं शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श। इन पांचों शब्दों के अन्तर्गत सारे विषय भोग आ गए जिनका हम आनन्द उठाते हैं। ये भोग वे क्षेत्र हैं जिनमें 'मैं' कार्य करता हूं।

महाभूत का अर्थ पंच महाभूत है- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इन्हीं पांच तत्वों से मिल कर हमारा शरीर तथा ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ बने हैं। जीवात्मा महाभूतों से बने शरीर में अभिव्यक्त हो कर महाभूतों से बने प्राणियों के साथ व्यवहार करता है। अत: ये भी क्षेत्र हैं। जब मेरे शरीर में जल तत्व कम होने लगता है तो मुझे पता चल जाता है। अपने शरीर में अग्नि तत्व के बढ़ने से भी बुखार की अनुभूति मुझे होती है। अत: मैं इनका ज्ञाता हूं। ये क्षेत्र हैं मैं क्षेत्रज्ञ।

दस इन्द्रियाणि के अन्तर्गत पांच ज्ञानेन्द्रियां - आंख, नाक, कान, रसना और त्वचा तथा पांच कर्मेन्द्रियां- हाथ, पैर, वाणी, गुदा और उपस्थ आते हैं। इनकी क्रियाओं को भी मैं जानता हूं। अत: ये सब मुझ क्षेत्रज्ञ के क्षेत्र हैं।

एक मन:- मन ही सभी इन्द्रियों का नियन्ता है। इन्द्रियां वही करती है जो मन को अच्छा अच्छा लगता है या मन कहता है। मन को मैं भी जान पाता हूं। मेरा मन आज दुखी है, मेरा मन अभी बड़ा शांत है, मेरा मन अभी खेलना चाहता है। अत: मन मुझ क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र है।

बुद्धि:-हमारी निर्णय क्षमता या विचार शक्ति को बुद्धि कहते हैं। मन को चलाने वाली बुद्धि ही है और जब मन के अनुसार चलने में हम नुकसान में पड़ जाते हैं तो कहते हैं- 'हाय रे मेरी बुद्धि ही भ्रष्ट हो गई थी जो मैं अमुक वस्तु के पीछे भागा।' यानी बुद्धि ने मन को उसकाया, मन ने इन्द्रियों को। यह बुद्धि भी क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र है। हमने बुद्धि के इन कार्यकलापों को देखा है।

अहंकार:-अहंकार का अर्थ है 'मैं' पन। हम सोचते हैं-ये मेरी इन्द्रियां हैं, यह मेरा मन है, यह मेरी बुद्धि है। यह मैं और मेरा पन तभी तक रहता है जब तक शरीर में आत्मा है। हमें इस 'मैं, मेरे' की भावना का ज्ञान

है। अत: अहंकार भी क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र है।

अव्यक्त का अर्थ है वासना। हमारे अच्छे बुरे संस्कार कहां दबे होते हैं पता भी नहीं चलता और समय-समय पर वे इच्छा के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। जैसे विवाह की वासना बाल्यावस्था में अव्यक्त होती है। यौवन के साथ वह भी अभिव्यक्ति पाने लगती है और वैवाहिक सुख की कामना का रूप ले लेती है।

भगवान ने इस श्लोक में क्षेत्र के सारे पक्ष गिना दिए हैं जिन्हें हम संक्षेप में भोग और शरीर कह सकते हैं।

पंच महाभूतों अर्थात् पदार्थों, रसायनों से बना इन दस इन्द्रियों को धारण करने वाला यह बाह्य शरीर हमारा स्थूलतम रूप है जो हर किसी को दिखलाई देता है। अत: इसे स्थूल शरीर कह सकते हैं। इस स्थूल शरीर को नियंत्रित करते हैं हमारे मन बुद्धि तथा अहंकार। इन्हें अन्त:करण या सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इस सूक्ष्म शरीर को चलाती है वासना। वासना मन को नियंत्रित करती है, मन इन्द्रियों को। अत: मानव के समस्त कार्यकलापों का मूल कारण वासना ही है। अत: इसे कारण शरीर कहते हैं।

क्षेत्र के मूल स्वरूप का वर्णन करने के बाद अब उसके विकारों का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं:-

इच्छा द्वेष: सुखं दु:खं संघातश्चेतना धृति: ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।६।।

इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, संघात, चेतना और धृति इन विकारों सहित यह क्षेत्र संक्षेप में कहा गया है।

इस श्लोक में भगवान ने क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन अर्थात् विकार बताए हैं। इनमें से इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, चेतना और धृति अर्थात् धैर्य धारण करने की शक्ति सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन बुद्धि के विकार है। मन बुद्धि नाम के कोई स्थूल अंग शरीर में नहीं होते। विचारों के प्रवाह को ही मन बुद्धि कहते हैं। ये विचार जब तक अनिश्चयपूर्ण अवस्था में होते हैं तब मन कहलाते

हैं और जब निश्चयात्मक बन जाते हैं तब बुद्धि। निश्चय भी एक बार हो जाने के बाद बाह्य परिस्थिति वश बदल सकता है। अत: यह भी विकारी है। बाकी इच्छा, द्वेष, सुख-दुख की स्थिति तो हमारी कैसे क्षण बदल सकती है यह हम सब अच्छी तरह जानते हैं किसी को बताने की आवश्यकता नहीं। अभी ताश खेलने की इच्छा कर रही है अगले ही क्षण मोटर साइकिल की सवारी का मन करने लगेगा। आज जो हमें अत्यन्त प्यारा लग रहा है कल हमारा सबसे बड़ा शत्रु बन जायेगा। अभी हमें लग रहा है कि हमारे समान सुखी कोई नहीं और जरा किसी ने अपशब्द कह दिए तो हम सोचेंगे कि ऐसे जीवन से तो तो मर जाना अच्छा है। इसी प्रकार हमारा धैर्य भी है। कभी तो हम बड़ी-बड़ी बातों को हंसते-हंसते सहन कर लेते हैं कभी जरा सी अड़चन पर अपना आपा खो बैठते हैं।

चेतना का अर्थ प्राणशक्ति है। हमारे शरीर में विभिन्न क्रियाएं होती है जिनके द्वारा शरीर समुचित रूप से कार्य करता है। पाचन क्रिया, रक्त संचारण क्रिया, श्वास क्रिया आदि भी हर वक्त एक सी अवस्था में नहीं रहती जिसके कारण विभिन्न प्रकार के और भी शरीरिक विकार, व्याधि आदि उत्पन्न होती है। अत: चेतना भी शरीर का विकारी तत्व है।

संघात का अर्थ है समूह। हमारा शरीर जिन तत्वों से बना है उनकी मात्रा में न्यूनाधिक परिवर्तन होता रहता है। जल तत्व की कमी से हम डीहाइड्रेशन के शिकार हो जाते हैं। पृथ्वी तत्व हमारे शरीर के आकार को बढ़ा देता है। अत: संघात भी शरीर यानी क्षेत्र का विकारी तत्व है।

क्षेत्रज्ञ जब क्षेत्र के साथ तादात्म्य कर लेता है, यानी 'मैं' जब अपने अविकारी स्वरूप को भूल कर शरीर, मन, बुद्धि, वासना आदि के साथ तादात्म्य कर लेता है तब स्थाई आनन्द की जो अवस्था रहनी चाहिए वह नहीं रह पाती क्योंकि जैसा भगवान ने बताया ये सब परिवर्तनशील हैं। इनकी ऊंच-नीच के साथ मैं भी ऊंचा-नीचा होता रहता हूं जैसे घुमड़ती लहरों के बीच तैरती नाव मैं बैठा यात्री। लहरें उठती-गिरती हैं, उनके साथ नाव भी ऊपर-नीचे होती है और साथ उससे चिपका सवार भी ऊपर नीचे हिचकोले खाता है और घबराता है। जब वह वह यात्री किनारे पर बैठ कर हिचकोले खाती नाव को देखता है तो वह ऊपर नीचे नहीं होता। वह घबराता नहीं। क्योंकि उसने

नाव से अपने को अलग कर लिया है। अब वह नाव का द्रष्टा भर है।

यहां भगवान जब इन विकारों की बात बता रहे हैं तो उनका तात्पर्य यह है कि हम विचार करें और समझें कि शरीर, मन, बुद्धि की स्थितियां तो बदलेंगे ही, ये स्थाई रह ही नहीं सकती। सुख-दुख, स्वास्थ्य-रोग आदि की परिस्थिति आएगी ही किन्तु हमें इनमें डूब कर अपने को खोना नहीं है, इन्हें तटस्थ हो कर द्रष्टा बन कर देखना है।

इन विकारों का कोरा ज्ञान किसी काम का नहीं। अपनी मन:स्थिति का सूक्ष्मता से अवलोकन करने का अभ्यास करना चाहिए। इसका आरंभ यों किया जा सकता है- रात को सोने से पहले पांच दस मिनट तक आत्मनिरीक्षण करें। सुबह से शाम तक क्या-क्या किया, क्या-क्या सोचा इस पर शुरु से अन्त तक सरसरी नजर डालें। बीच-बीच में हम अपनी किसी बात को याद करके आत्म प्रशंसा में फूल उठते हैं, कभी अपने आप को कोसने लगते हैं। उस समय याद रखें कि यह क्रिया हम अपनी अच्छाई बुराई को पहचान कर अपने को सुधारने के लिए नहीं कर रहे, हम तो केवल अपने विचारों के जुलूस को घर के बरामदे में खड़े होकर देखने का अभ्यास कर रहे हैं। न अपने को सराहना है न कोसना है। केवल अवलोकन करना है। इससे मन बुद्धि के साथ तादात्म्यता कम होगी।

इस तादात्म्यता को दूर कर पाना ही ज्ञानी होना है। तादात्म्यता मिटाना ही ज्ञान है। ज्ञानी के बीस लक्षणों अर्थात् ज्ञान के बीस साधनों का वर्णन भगवान अगले श्लोकों में करते हैं।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।७।।

(श्रेष्ठता का) अभिमान न होना, दंभ न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु की सेवा, भीतर बाहर की पवित्रता, स्थिरता और मन का वश में होना-

भगवान ने इस श्लोक में जो गुण गिनाए हैं वे ज्ञानी के लक्षण हैं और हम अज्ञानियों के लिए साधना निर्देश। एक बात हम देखेंगे कि ये गुण

ही भगवान ने भक्तों के लक्षण में बताए थे। जहां भक्ति पहुचाती हैं वहीं ज्ञान ले जाता है। भक्ति में मुख्य विचार- 'सब भगवान का, मैं भगवान का, भगवान मेरे' रहता है और ज्ञान में मुख्य विचार यह रहता है कि 'यह देह मन बुद्धि मैं नहीं अत: इनसे मुझे तादात्म्य नहीं करना। इनके विकारों के साथ मुझे भी विचलित नहीं होना मैं तो इनका द्रष्टा हूं, ज्ञाता हूं। ये क्षेत्र हैं मैं क्षेत्रज्ञ। ये प्रकृति हैं मैं पुरुष। मैं जड़ नहीं चिन्मय हूं, मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूं।' और दोनों ही विचार हमें एक ही क्षितिज तक ले जाते हैं।

साधारणत: हम सोचते हैं कि ज्ञानी होने के लिए हमें बहुत अध्ययन करना पड़ेगा। गीता, भागवत, रामायण, उपनिषद, विवेक चूड़मणि, योगवासिष्ठ आदि के श्लोक भी मुखस्थ होने ही चाहिए। इनको बहुत अच्छी तरह समझना होगा। इन श्लोकों की व्याख्या केवल पढ़ने सुनने से काम नहीं होगा, उन पर खूब विचार, खूब चिन्तन, खूब मनन करना होगा।

ठीक सोच रहे थे हम पर अन्त में चूक गए। चिन्तन मनन तक पहुंच कर रह गए और उन उपदेशों को जीवन में धारण करने की नहीं सोची! सब व्यर्थ हो गया। हम महाज्ञानी नहीं महाअज्ञानी की उपाधि से विभूषित होने लायक हैं क्योंकि साधारण अज्ञानी की हरकतें तो अज्ञान के कारण है पर हम तो ज्ञान की बातें जानते हुए भी वही कर रहे हैं! महामूढ़ हैं हम!

इसीलिए ज्ञानी को श्रेष्ठता का अभिमान नहीं होता। एक बच्चा जब शुरु-शुरु में विज्ञान पढ़ता है तो बड़ा फूल जाता है कि उसे कितनी बातें मालूम हैं। उसे मालूम है कि पानी कैसे बरसता है, उसे मालूम है कि पौधों में जीवन है। किन्तु जैसे-जैसे बड़ा होता है, रिसर्च कर डिग्री लाता है, तब उसे पता रहता है कि कितना है इस ब्रह्माण्ड में, जो उसे नहीं मालूम। श्रेष्ठ ज्ञानी को तो ज्ञान का भी अभिमान नहीं होता।

ज्ञान के मार्ग में अभिमान को सबसे बड़ी बाधा बताते हैं। कहते हैं ज्ञान का अभिमान होने की चांस बहुत रहती हैं अत: सावधान रहना चाहिए। वास्तव में यदि अभिमान रह गया तो वह व्यक्ति पंडित कहला सकता है ज्ञानी नहीं।

दंभ भी एक अत्यन्त सामान्य बात है जिसे हम साधारणत: अवगुण के रूप में विचार ही नहीं पाते। यदि बहुत से लोग देख रहे हों तो भिखारी

को दस रुपया भी दे देंगे वर्ना हाथ उठाने से भी बाज नहीं आएंगे। लोग क्या कहेंगे? मेरी इज्जत का क्या होगा? ये विचार हमसे क्या नहीं करवा देते और अपने पांडित्य के प्रदर्शन का तो कोई मौका हम चूकना ही नहीं चाहते। किन्तु यदि हम जरा अपने मनोभावों को तटस्थ होकर देखने का अभ्यास करें तो हम समझ पाएंगे इस बनावटी पन को। हम यह भी जान पाएंगे कि कितना खोखला है हमारा दंभ। हम जो नहीं हैं वह होने का प्रयत्न करना ही अज्ञान है और जो हैं उसी के साथ एकात्मता अनुभव करना और उसी के अनुकूल व्यवहार करना ही ज्ञान। अतः जो ज्ञानी है वह अदम्भी है। और जब पुरुष अदम्भी होगा तो आर्जवम् अर्थात् सरलता का गुण उसमें अपने आप आ जाएगा। वह जितना पवित्र ऊपर से दिखेगा उतना ही अंदर से होगा।

ज्ञानी क्षमाशील भी होगा क्योंकि उसने अपनी कमजोरियों का सूक्ष्मता से अवलोकन किया है, उन्हें जाना है और बड़े परिश्रम से उन्हें दूर किया है। उसे पता है कि कितनी बार उसकी इच्छा होती थी कि फलां की गर्दन उमेठ दी जाए और इस इच्छा को दबाने के लिए उसे कितना घोर परिश्रम करना पड़ा था अतः दूसरा भी यदि अपने स्वभाव से लाचार होकर उसका अनिष्ट कर रहा है तो वह प्रतिहिंसा का नहीं क्षमा का पात्र है।

इन सबसे उसकी बुद्धि में स्थिरता आ जाती है। देह मन बुद्धि से तादात्म्य हटाने के लिए की गई साधना उसे पूर्ण संयमी बना देती है क्योंकि अब वह मन के बहकावे में नहीं आता। उसे पता है कि ये मेरी इन्द्रियां, यह मेरा मन मेरे उपयोग के यंत्र हैं अतः उनकी यथोचित देखरेख मुझे अवश्य करनी है पर अपने आप को उनका गुलाम नहीं बना डालना। देह मन बुद्धि का स्वामी होता है वह।

अब चर्चा बाकी रही आचार्य सेवा की। आचार्य के नाम से हम जिनसे परिचित हैं वे शिक्षक होते हैं गुरु नहीं। वे हमें कुछ देते हैं उसके बदले हम भी उन्हें कुछ देते हैं और मामले को खत्म मानते हैं। लेकिन वह गुरु जिसने शिष्य को मन बुद्धि की तादात्म्यता हटाने की शिक्षा दी है, अभ्यास कराया है उसे शिष्य कुछ नहीं दे सकता वह तो उसकी सेवा भी एक ही प्रकार से कर सकता है कि जो ज्ञान उसने गुरु से पाया है उसे वह स्वयं पूर्ण रूप से धारण करें तथा किसी और को भी दे। गुरु की सच्ची सेवा यही है।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोषानुदर्शनम् ।।८।।

इन्द्रिय विषयों से वैराग्य, अनहंकार तथा जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुख में दोष दर्शन।

इन्द्रिय विषयों से वैराग्य ज्ञान की सहज परिणति होती है बशर्ते कि वह ज्ञान पुस्तकों से केवल ब्रेन तक न पहुंचा हो वरन् व्यवहार में उतरा हो। एक इन्द्रिय लें-रसना। भोजन स्वादिष्ट है कि नहीं, उसमें मिर्च अधिक है कि खटाई। यह ज्ञान तो ज्ञानी को भी किसी अन्य की भांति ही होता है। स्वादिष्ट मिठाई का स्वाद वह लेता है लेकिन रसना ने उस मिठाई के स्वाद से राग करना शुरु किया नहीं कि वह तुरन्त अपने को पृथक् कर लेता है और मजे से देखता है कि रसना ने कैसे अपनी तुष्टि के लोभ में मन और बुद्धि को चराना शुरु कर दिया है कि यह निर्णय ले लें कि महत्व मिठाई के स्वाद का नहीं, वास्तव में यह पौष्टिक बहुत है, यह शुद्ध सात्विक भोजन है अत: इसका सेवन करना ही चाहिए। जहां उसने रसना, मन एवं बुद्धि की तिकड़ी से पृथक रह कर उनकी चालाबाजी पकड़ी वहीं वे बेचारे अपराध बोध से दुबके। इस प्रकार कोई भी इन्द्रिय उसे विषय सुख की ओर घसीट नहीं पाती।

हमारा अहंकार भी इसीलिए होता है क्योंकि हम अपने आप को अपने शरीर की सुन्दरता और स्वास्थ्य, बुद्धि की तीक्ष्णता, कुटम्ब की इज्जत, परिवार के नाम, खानदान की कुलीनता आदि के साथ कस कर जोड़े रहते हैं। जहां इन सबसे अपने को विभक्त किया वहीं साधक की उनके प्रति महत्व बुद्धि समाप्त हो जाती है फिर किसका अहंकार करे!

जन्म मृत्यु जरा व्याधि और दुख सभी भोगते हैं। रो कलप भी लेते हैं लेकिन उनके विषय में सोचते कभी नहीं। सिद्धार्थ ने सोचा था और वे बुद्ध बने। ज्ञानी इन सब विकारों में दोष दर्शन करता है। लेकिन उनका दोष दर्शन हमारी तरह का नहीं होता। हमारे दोष दर्शन के पीछे आत्म निरीक्षण और विवेक नहीं होता, केवल यह प्रवृत्ति होती है कि किस प्रकार इनकी

जिम्मदारी दूसरे पर थोप कर अपना छुटकारा लिया जाए। हमारे जन्म के लिए हमारे माता पिता दोषी होते हैं, मृत्यु के लिए भगवान की अन्धेरगर्दी, बुढ़ापे की तकलीफों के लिए आज कल के फल-सब्जी में पौष्टिक तत्वों का अभाव और व्याधि के लिए तो सरासर बेटे दोषी हैं। उनके निकम्मेपन के कारण ही टेंशन और हाई ब्लड प्रेशर हुआ। उनके आपसी झगड़ों के कारण अटैक आया वर्ना हम मियां बीबी को किस चीज की कमी थी, मस्ती से दिन काट सकते थे।

ज्ञानी इन सबमें दूसरों का नहीं अपना दोष ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है। यदि वह व्यधिग्रस्त हो गया या किसी कारणवश दुख का भागी हुआ तो वह आत्म निरीक्षण द्वारा प्रयत्न करता है यह जानने का कि किस दोष का यह फल मिला और उसे यदि पता चल जाए तो वह अपने आप को संभालता है।

जन्म मृत्यु जरा व्याधि के दोष दर्शन का एक अभिप्राय यह भी है कि बार-बार विचार करें कि मानव तन धारण करने में ये दुख ही दुख हैं। जैसे भगवान बुद्ध ने जब ऐसा दोष दर्शन किया तो इन शरीरगत दुखों से पार पाने की तीव्र इच्छा उनमें जागी और उन्होंने घोर तप किया। तभी वे निर्वाण अर्थात् मोक्ष के अधिकारी बने। तभी उन्हें पता चला कि निर्वाण की राह में सबसे बड़ी रुकावट कामना है। इन तकलीफों से मुक्ति पानी है तो कामना को त्यागना होगा।

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।९।।

आसक्ति रहित होना, पुत्र, स्त्री, घर आदि में एकात्मता न होना, इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति पर चित्त का नित्य सम रहना।

संसार की विभिन्न वस्तुओं के साथ आसक्ति का मूल कारण देह, मन, बुद्धि के साथ तादात्म्यता है। जो वस्तु शरीर को सुख देती है, जो मन को भाती है, जो बुद्धि को भाती है उसके साथ मेरी आसक्ति हो जाती है

क्योंकि मेरे शरीर, मन, बुद्धि, को अच्छा लगना यानी मुझे अच्छा लगना। किन्तु जैसे ही यह तादात्म्यता घटी, मनुष्य अपनी देह मन, बुद्धि, की नित नवीन मांगों के प्रति वैसे ही उदासीन हो जाता है जैसे हम अपने पड़ोसी की समस्या के प्रति होते हैं।

पुत्र, स्त्री, घर आदि के साथ उसकी एकात्मता इस शरीर, मन, बुद्धि के सम्बन्धों के कारण ही होती है। ये सब शरीर और मन को सुख जो देते है। यदि पुत्र, स्त्री अपने अनुकूल व्यवहार न करें तो रिश्ते तोड़ते कितनी देर लगती है? लोग क्या कहेंगे के भय से स्पष्ट रूप से न भी त्यागा तो बातचीत तो बंद कर सकते हैं।

'सारे नाते स्वार्थ के हैं' यह बात अज्ञानी भी समझता है और ज्ञानी भी। दोनों में अन्तर यही है कि ज्ञानी इस विचार का लाभ उठाता है और अज्ञानी रोता पीटता रह जाता है क्योंकि उसने कभी आत्मनिरीक्षण नहीं किया। उसने कभी यह नहीं देखा कि वह स्वयं भी उतना ही बड़ा स्वार्थी है जितना दूसरे। हम सभी अपने आप को बड़ा निरीह समझते हैं दूसरों को आतंकवादी। और अज्ञानी रोता है, निस्वार्थ प्रेम खोजता है, जो उसे मिलता नहीं क्योंकि निस्वार्थ प्रेम, देह, मन बुद्धि में तादात्म्यता रखने वाले संसारी के लिए करना संभव ही नहीं है।

ज्ञानी इसी तथ्य को सहज रूप से स्वीकार करता है। वह शोक मनाने के स्थान पर इस तादात्म्यता को हटाने का प्रयास करता है और यह साधना उसे जीवन्मुक्त बना देती है।

ऐसी स्थिति में फिर उसे कुछ भी मिले न मिले उसकी समता में कोई अन्तर नहीं आता। इस श्लोक में इष्ट अर्थात् चाहा हुआ और अनिष्ट यानी अनचाहा का प्रयोग हुआ है। यह इष्ट अनिष्ट का भेद भी दूसरों की दृष्टि से ही है। ज्ञानी की स्वयं तो कोई चाह होती ही नहीं कि समता का स्थान व्याकुलता ले। यह तो दूसरे ही होते हैं जो सोचते हैं- इस दुष्ट को ही सब कुछ क्यों मिल जाता है या इस बेचारे पर भगवान कृपा क्यों नहीं करते।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।१०।।

मुझ में अनन्य योग के साथ अव्यभिचारिणी भक्ति का होना, एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव होना तथा जन समुदाय में प्रीति का न होना।

यहां भगवान ने एकदम स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञानी और भक्त भिन्न नहीं। उनमें कुछ भिन्नता है भी तो केवल प्रारम्भिक अवस्था में। ज्ञानी भी भक्त होता है। शंकराचार्य जैसे महाज्ञानी ने अद्वैतवाद को प्रतिष्ठित किया और साथ ही भज गोविन्द और शिव अपराध क्षमापन स्तोत्रम् जैसी रचना भी की। शिव से अपने अपराधों की क्षमा मांगते वक्त मानों उनका समस्त ज्ञान भावावेश के कारण द्रवित हो कर बह निकला है।

भक्ति भी ऐसी वैसी नहीं, अनन्य योग के साथ अव्यभिचारिणी भक्ति। ज्ञानी की भक्ति अनन्य तो होगी ही, इसके सिवा दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता क्योंकि उसने तो अपनी पहचान एक (आत्मा) के साथ ही की है, बाकी शरीर मन की उपाधियों, इनसे जुड़े रिश्ते नातों को तो उसने उस तरह महत्व दिया ही नहीं जिस तरह हम देते हैं।

हम तो ऐसे हैं कि प्रत्येक दिन हमारी भक्ति नए-नए रूप लेती है और हर दिन हमारा इष्ट देव अलग-अलग होता है। रविवार को सूर्य को जल चढ़ाना है, सोमवार शंकर जी का होता है, मंगलवार हनुमान जी का, शुक्रवार संतोषी माता का और शनिवार को तो शनि देवता को तेल चढ़ाना बहुत ही जरूरी है। ऐसा इसलिए होता है कि हम पूर्ण नहीं हैं, टुकड़े-टुकड़े में बंट कर बिखरे हुए हैं। शरीर, परिवार, व्यवसाय, कुटुम्ब आदि टुकड़ों में कभी किसी की मांग होती है कभी किसी की। हम समझते हैं कि हमें पूर्ण आनन्द तब मिलेगा जब हमारे व्यक्तित्व के ये अलग-अलग सभी टुकड़े सुखी होंगे। किन्तु ऐसा होता नहीं क्योंकि होना संभव ही नहीं। पूर्ण आनन्द तो तभी मिलेगा जब हम टुकड़ों से अपने को विभक्त कर अपने चिन्मय स्वरूप के साथ जुड़ेंगे। वही पूर्ण आनन्द स्वरूप है।

कामना पूर्ति के लिए अलग-अलग देवता को पूजना भक्ति नहीं व्यभिचार है। जैसे व्यभिचारिणी स्त्री अपने भौतिक सुखों के लिए अलग-अलग

दिन अलग पुरुष को प्रसन्न करने की कोशिश करती रहती है। उसे धन मिल जाता है पर क्या कभी वह शांति मिली है जो पतिव्रता को मिलती है! चाहे वह कुटिया में ही क्यों न हो। अलग-अलग देवता के मंदिर में जाकर भी यदि हमारा यही भाव रहे कि एक ही आलौकिक सत्ता है जो इन विभिन्न नाम रूपों में अभिव्यक्त हो रही है तब सबको प्रणाम करते हुए भी हमारी भक्ति की अनन्यता नहीं भंग होगी। अभी तो हम समझते हैं कि जो संतोषी मां दे सकती है वह शनी महाराज नहीं दे सकते और जो सूर्य देव दे सकते हैं उसे देने की सामर्थ्य शंकर जी में नहीं। हमने देवताओं में ही एकत्व नहीं पहचाना, सृष्टि के अन्य प्राणियों- कुत्ते, बिल्ली में एक परमात्मा कैसे देखेंगे!

लोगों की भीड़ भाड़ में, परिजनों, कुटुम्बीजनों या चापलूसों से घिरे रहने के पीछे भी कारण यही रहता है कि हम अपने आप में पूर्णता नहीं खोज पाते। हम स्वयं केवल अपने ही साथ एक घंटे भी नहीं रह सकते। हम बोर हो जाते हैं, घबरा जाते हैं। जब हम स्वयं अपनी 'कम्पनी' पसन्द नहीं करते तब दूसरे हमें कितना पसन्द करते होंगे? अपने हृदय की अपूर्णता को हम लोगों के पास जाकर या उन्हें बुलाकर भरने का प्रयास करते हैं। लेकिन ज्ञानी ने तो अपने सच्चिदानंद स्वरूप से पहचान कर ली है अतः उसे इन सबकी आवश्यकता नहीं। उसे लोगों से घृणा या द्वेष या नाराजगी नहीं होती। उसके लिए भगवान ने अरति शब्द का व्यवहार किया है। भीड़ भाड़ में उसे जाने का शौक नहीं होता। वह तो शान्त एकान्त स्थल ही पसन्द करता है।

ज्ञानी के लक्षणों का उपसंहार करते हुए भगवान कहते हैं:-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।११।।

अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति, तत्व ज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को ही देखना- यह सब ज्ञान है और इसके विपरीत जो है वह अज्ञान है-ऐसा कहा गया है।

भगवान ने दूसरे श्लोक में कहा था कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही मेरे

मत से ज्ञान है इसका मतलब कोई यह न समझ ले कि शरीर को क्षेत्र कहते हैं और इसके अंदर रहने वाली आत्मा का नाम क्षेत्रज्ञ है, यह बात हमने समझ ही ली, बस हमें ज्ञान प्राप्त हो गया इसलिए भगवान ने बता दिया कि ज्ञान तो वह है जो उपरोक्त गुणों के साथ जीवन में धारण किया जाए।

ज्ञानी के दो गुण और गिनाए हैं भगवान ने इस श्लोक में। एक है अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति। स्पष्ट है कि केवल आत्मा चेतन है अनात्मा जड़ है, आत्मा पुरुष है अनात्मा प्रकृति है, आत्मा अविकारी है अनात्मा विकारी इत्यादि-इत्यादि बड़ी-बड़ी बातें सुन-जान-समझ लेने से कुछ नहीं होगा। इस ज्ञान में नित्य स्थिति होनी चाहिए अर्थात् इसी ज्ञान के अनुरूप सदा व्यवहार हो। शंकराचार्य जैसे महान ज्ञानी भी जब नित्य स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाए थे तो भगवान शिव ने स्वयं उनकी सहायता की थी। उन्होंने गंगा स्नान कर लौटते शंकराचार्य के सामने कुत्तों के साथ चांडाल के रूप में रास्ता रोक लिया। अद्वैतवाद यानी 'जीव भी ब्रह्म ही है' के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर ने चांडाल को तिरस्कार के साथ रास्ते से हट जाने को कहा। तब चांडाल रूपधारी शिव ने जो उत्तर दिया उससे आचार्य की आंखें खुल गई और वे उनके पैरों पर गिर पड़े।

तत्व ज्ञानार्थ दर्शनम् से भी भगवान का अभिप्राय जीवन की धारणा से है। तत्व ज्ञान केवल पुस्तकीय न हो बल्कि उसका दर्शन होना है। यानी सभी प्रणियों में एक ही चिन्मय तत्व की केवल जानकारी यथेष्ट नहीं है। सबमें सचमुच एक ही परमात्मा के दर्शन होने चाहिए। जानकारी तो एक मिनट में केवल गुरुमुख से सुन लेने से भी हो जाती है पर दर्शन या नित्य स्थिति के लिए साधना की जरूरत होती है जिसके फलस्वरूप उपरोक्त गुण स्वयमेव आ जाते हैं। अत: महत्व ज्ञान की जीवन में धारणा का है। भगवान ने ज्ञानी के लक्षणों में मानवोचित गुणों को ही नामांकित किया है, पुस्तकीय ज्ञान की तो चर्चा भी नहीं की। अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान न भी हो किन्तु ये गुण जिनके जीवन में उतर जाए वे भगवान के मत से ज्ञानी हैं।

रमण महर्षि ने तो विद्यालय की शिक्षा भी पूरी नहीं की थी, श्री राम कृष्ण देव भी शिक्षा के प्रचलित मापदण्ड के अनुसार अशिक्षित ही कहे जाएंगे लेकिन दोनों परम ज्ञानी थे। उन्हें उपनिषद् पढ़ने की आवश्यकता नहीं, वे

तो स्वानुभूति से जो कहते थे उसमें वेदान्त का पूर्ण ज्ञान समाहित था।

अत: साधक को चाहिए कि वह अधिक ज्ञान अर्जित करने के लिए इधर-उधर भटकने के स्थान पर अधिक महत्व साधना को दे। भगवान ने कहा कि उनके द्वारा गिनाए गए गुणों के विपरीत जिनके आचरण और मान्यताएं हैं वे सब अज्ञानी हैं।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।१२।।

जो जानने योग्य है तथा जिनको जानकर मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त होता है उसको भली-भांति कहूंगा। वह अनादि परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है न असत् ही।

ज्ञान के विषय में सब कुछ बताने के बाद अब ज्ञान के प्रयोजन अर्थात् ज्ञेय के विषय में भगवान भली-भांति बताएंगे। भगवान का कहना है कि इस ज्ञेय को जानने से मनुष्य को अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

अमृतत्व की प्राप्ति का अर्थ है 'मैं' कभी नहीं मरूंगा। मैं अमर हूं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि या शरीर नष्ट नहीं होगा। शरीर तो प्रकृति के नियमों के अनुसार क्षय होते-होते मृत्यु को प्राप्त करेगा लेकिन शरीर का क्षय मुझे मार नहीं पाएगा। मैं इन सबका साक्षी बनकर सारे जन्म मृत्यु के चक्रों का अवलोकन करते हुए स्वयं परम आनन्द में रहूं तो वही अमृतत्व है।

ब्रह्म को अनादि कहा गया है क्योंकि आदि तो उसी का होता है जिसमें उद्भव की गणना काल के द्वारा की जा सकती है लेकिन काल की उत्पत्ति ही जिससे हुई हो उसकी उत्पत्ति की गणना काल द्वारा नहीं की जा सकती। वह कालातीत है। ब्रह्म के साथ परम विशेषण लगाने का तात्पर्य यह है कि वह सर्वोच्च है। कहीं-कहीं ब्रह्म शब्द ब्रह्मा या वेदों का भी वाचक होता है लेकिन परम ब्रह्म का अर्थ वह विलक्षण ज्ञेय तत्व है जिससे उच्च और कुछ भी नहीं। भगवान उस परमात्मा को सत् असत् से भी परे बताते

हैं। सत् और असत् का भेदभाव हमारे मन-बुद्धि की उपज है। हम सत् उसे मानते हैं जिन्हें हम इन्द्रियों द्वारा देख-समझ सकें या विचार द्वारा जान सकें लेकिन ब्रह्म इन्द्रिय गोचर नहीं। यह स्थूल बुद्धि द्वारा भी नहीं जाना सकता। इसे जानने के लिए तो बुद्धि को भी नकारना पड़ता है अतः इसे सत् नहीं कह सकते। किन्तु इसके साथ ही इसे असत् कहा जाना भी उचित नहीं क्योंकि असत् वह है जिसकी सत्ता या जिसकी अभिव्यक्ति ही न हो जैसे गधे के सींग होता ही नहीं अतः यह असत् है। किन्तु परमात्मा की तो अभिव्यक्ति हम सृष्टि के कण-कण में देख रहे हैं। अतः इसे भगवान सत् असत् से परे बताते हैं।

सर्वतः पाणिपांद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१३।।

वह सब ओर हाथ-पैर वाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुख वाला तथा सब ओर कान वाला है। क्योंकि वह संसार में सब को व्याप्त करके स्थित है।

जिसे सूक्ष्म से सूक्ष्म बुद्धि द्वारा भी नहीं समझा जा सकता उसे ज्ञान के स्थूलतम रूप शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जाएगा तो शब्द ऐसे ही अटपटे लगेंगे जैसे इस श्लोक में लग रहे हैं।

हम जिस प्रकार के आकारों और प्राणियों को देखने और उनकी कल्पना करने के अभ्यस्त हैं उस कल्पना के अनुसार चित्र बनाने बैठेंगे तो भी सब ओर मुख के साथ-साथ पैर वाले पुरुष का चित्र नहीं बना पाएंगे। भाव यह है कि कल्पनातीत परम पुरुष को ज्ञान प्राप्ति की प्रचलित विधाओं के सहारे समझने का प्रयास न करें। इसके लिए आध्यात्म साधना चाहिए।

सब ओर सिर, पैर तथा कान वाले कहने का तात्पर्य यह है कि संसार में जितनी विचार शक्ति है वे इसी परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है। जितनी कर्म शक्तियां है, जिसका प्रतिनिधित्व पैर कर रहे हैं, वे सब भी प्रभु की हैं। इसी प्रकार कान को ज्ञान इन्द्रियों के प्रतीक के रूप में यहां रखा गया

है। तात्पर्य यह है कि समस्त जानने, समझने ,सोचने, विचारने की क्षमता ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। यदि हमारा चेतन तत्व निकल जाए तो कान, सिर, पैर होकर भी न हुए के समान है। इस संसार में जो कुछ भी जैसा दिखाई पड़ रहा है वह वैसा ब्रह्म की उपस्थिति के कारण ही है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१४।।

समस्त इन्द्रियों के गुणों में आभासित होते हुए भी (वह परमात्मा) सभी इन्द्रियों से रहित है। सबसे असक्त होते हुए भी सबको धारण करने वाला है। निर्गुण होते हुए भी सम्पूर्ण गुणों का भोक्ता हैं।

यहां परस्पर विरोधी बातें एक साथ कह कर परमात्मा की सत्ता को समझाने का प्रयत्न किया गया है। हमारा जो चैतन्य तत्व है उसी की सत्ता के कारण ही हमारी इन्द्रियां कार्य कर रही हैं। कार्यशील इन्द्रियां चेतना की अभिव्यक्ति हैं लेकिन चेतना इन्द्रियों से भिन्न है। आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियां जड़ तत्वों से बनी है अतः जड़ हैं। वे तो तभी तक चैतन्य प्रतीत होती है जब तक आत्मा है। आत्मा ही चेतना का कारण है। चेतन-जड़ एक नहीं हो सकते, वे पृथक् ही होंगे। अतः आत्मा भी इन्द्रियों में प्रकाशित होते हुए भी इनसे सर्वथा रहित है। इन्द्रियों का क्षय होता है तब आत्मा का क्षय नहीं होता। शरीर मोटा हो जाने पर आत्मा मोटी नहीं हो जाती।

जड़-चेतन का यह सम्बन्ध हीन सम्बन्ध केवल इन्द्रियों में ही नहीं दिखाई देता। शरीर, मन बुद्धि को धारण करने वाली जीवात्मा ही है किन्तु शरीर, मन, बुद्धि के विकार उसमें व्याप्त नहीं होते।

भगवान परमात्मा को निर्गुण भी बता रहे हैं सगुण भी। ये सारी परस्पर विरोधी बातें वे अलग-अलग अध्याय में या कुछ एक श्लोक के अन्तराल में नहीं कह रहे हैं, एक ही श्लोक में, एक ही सांस में कह रहे हैं। इन्हें परस्पर विराधी बातों से भ्रम नहीं पैदा करना, वे तो विरोध को भी स्पष्ट कर रहे हैं। ये स्पष्ट कर रहे हैं कि काला भी रंग ही है और सफेद भी रंग ही है। अलग-अलग स्थान पर बात कही गई हो, एक जगह ब्रह्म को निर्गुण बताया

गया हो और दूसरी जगह सगुण बताया गया हो तो किसी ने एक ही बात पढ़ी हो तो एक अड़ सकता है कि ब्रह्म सगुण ही है, और दूसरा कह सकता है कि निर्गुण है। किन्तु एक ही साथ 'सगुण भी निर्गुण भी' पढेंगे तो दोनों को अपने विरोध भुलाने ही होंगे और दोनों सोचने पर विवश हो जाएंगे और यदि उन्होंने सचमुच इसका उत्तर तलाशने के लिए साधना की तो उन्हें पता चलेगा कि ब्रह्म द्वन्द्वातीत है और इसे मनुष्य की बुद्धि की सामान्य अवधारणाओं में बांधा ही नहीं जा सकता।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।१५।।

वह सभी भूतों के बाहर भीतर है, वह चर भी है अचर भी। सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है। दूर और पास भी वही है।

इस श्लोक में पिछले श्लोक की भांति परस्पर विरोधी बातें कह कर हमें अपनी सामान्य बुद्धि की परिधि से ऊपर उठने की प्रेरणा दी गयी है। इस श्लोक के सारे द्वन्द्व परमात्मा की सर्व व्यापकता से सम्बन्धित हैं। जैसे हम पानी से भरा कांच का एक बड़ा सा जार लें। एक ड्रापर में रंग भर कर उस जार में डुबा कर ड्रापर को दबाते हुए गोलाई में हिला दें तो पानी के भीतर एक रंगीन रेखा बनी हुई दिखाई देगी। वह रेखा भी पानी ही है और उसके बाहर भी पानी है क्योंकि उस जार में पानी सर्वव्यापक है। सर्वव्यापक होने पर भी हम परमात्मा को न देख सुन छू पा रहे हैं, न उसका अनुभव कर पा रहे हैं न उसका ज्ञान ही हो रहा है ऐसा क्यों?

भगवान ने इसका उत्तर दिया है कि वह सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है। इसे समझना होगा। हमारी इन्द्रियां तो हमारे व्यक्तित्व का स्थूलतम भाग है। वे स्थूल को ही देख सुन छू सूंघ पाती है। अत्यन्त आधुनिक उपकरणों का भी सहारा लें तब भी परमाणु जितना स्थूल तो होना ही चाहिए उसे। किन्तु इन्द्रियां किसी के प्रेम को सुन नहीं पाती, किसी के द्वेष को सूंघ नही पाती। कहने को तो कहते हैं हम कि उसके कर्मों में एहसान की 'बू' आती है लेकिन यह 'बू' हमारी नाक ने नहीं मन ने पहचानी है। यानी मन उसे भी

सूंघ पाता है जिसे हमारी इन्द्रियां नहीं सूंघ पाती। भावनाएं वस्तुओं से अधिक सूक्ष्म हैं और उन्हें पाने के लिए हमारा उपकरण भी विशेष है।

भावनाओं से भी सूक्ष्म है विचार या कल्पना शक्ति। मन से भी अधिक क्षमतावान है बुद्धि। मन तो फिर भी उन्हीं में भटकता है जिनका उन्हें ज्ञान है किन्तु बुद्धि तो कल्पना की उड़ान भर कर जाने कहां-कहां पहुंच जाती है। बाथ टब में नहाते हुए आर्किमिडीज की आंखें स्वर्ण मुकुट को नहीं देखती, उसका मन उसकी कीमत की बात सोच कर उसे पाने की लालसा नही करता। न वह आंखों से देखता है, न मन से। वह तो बुद्धि से देखता है, मुकुट को नहीं-तैरने के सिद्धान्त को। और ऐसा देखता है कि देह मन का भान भूल जाता है और 'यूरेका यूरेका' यानी 'पा लिया पा लिया' कहते हुए नग्न ही सड़क पर दौड़ जाता है। उसने क्या पाया यह क्या एक सुनार समझ पाएगा? क्या एक महाजन समझ पाएगा? नहीं। विज्ञान का यह सिद्धान्त सूक्ष्म होने के कारण उनके लिए अविज्ञेय होने का अर्थ नहीं कि उसे जाना नहीं जा सकता किन्तु सुनार और महाजन बुद्धि की में वह सूक्ष्मता नहीं जो भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त को समझ सके।

इसी प्रकार भगवान जब ब्रह्म को अविज्ञेय कह रहे हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह ज्ञेय नहीं। वह ज्ञेय है पर अत्यन्त सूक्ष्म, यानी हमारे स्थूल शरीर मन बुद्धि की क्षमता से परे होने के कारण हम साधारणत: प्रचलित संसाधनों द्वारा इसे नहीं जान सकते। इसके लिए विशेष साधना की आवश्कता है। साधन नहीं, साधना चाहिए परमात्मा को जानने के लिए।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।१६।।

अविभक्त होते हुए भी सब प्राणियों में विभक्त की भांति स्थित लगता है जो भूतों को धारण करने वाला जान पड़ता है वही संहार और उत्पत्ति करने वाला है।

जब हम खुले स्थान पर चार दीवारें और एक छत डाल देते हैं तो वह एक कमरा बन जाता है। इस कमरे में हमने एक घट यानी घड़ा भी

रख दिया। घड़े के भीतर के स्थान को हम घटाकाश कह दें, कमरे के अन्दर स्थित आकाश को मठाकाश और बाहर के अनन्त आकाश को महाकाश। क्या घटाकाश मठाकाश और महाकाश भिन्न हैं? क्या महाकाश के टुकड़े होने पर मठकाश बना? नहीं? क्या मठाकाश ने घट में प्रवेश कर घटाकाश का रूप धारण किया? नहीं। क्या घड़े को नष्ट कर देंगे तो घटाकाश घड़े से बाहर निकल कर मठाकाश में मिलेगा? नहीं। आकाश ज्यों का त्यों है, वह न कहीं जाता है, न किसी में प्रवेश करता है, न कहीं से निकलता है। दीवारें बनने के कारण प्रतीत होने लगता है कि महाकाश मठाकाश बन कर मठ में स्थित है।

इसी प्रकार परमात्मा भी सर्वव्यापी है, वह शरीर में प्रवेश नहीं करता, न मरने पर शरीर से निकल कर कहीं बाहर जाता है। यह तो मात्र हमारी प्रतीति है और भ्रमवश हम आत्मा के शरीर छोड़कर जाने की शब्दावली का व्यवहार करते हैं। आत्मा अविभक्त है, बाहर, भीतर सब जगह सब वस्तुओं में, सब प्राणियों में एक समान। केवल उपाधियों की भिन्नता के कारण यह भिन्न जान पड़ता है। हमारे मन बुद्धि और अहंकार की मानो तिकोनी दीवार है जिससे घिरने पर जीवात्मा अलग और परमात्मा-अलग जान पड़ता है।

विभिन्न नाम रूपों में ही नहीं विभिन्न शक्तियों में भी एक ही परमात्मा है। संसार की जितनी शक्तियां हैं उन्हें हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं- सृजन, पोषण और संहार शक्ति। इन्हीं के आधार पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन देवों की धारणा की गयी है। हम कहते हैं ब्रह्मा जी तो सृजन करते हैं, विष्णु जी पालन-पोषण करते हैं और शिव संहार करते हैं किन्तु वास्तव में ये भिन्न नहीं। एक ही परमात्मा की विभिन्न भूमिकाओं में अभिव्यक्ति है जिसके कारण नाम अलग-अलग हो जाते हैं। जैसे दूध पिलाने वाली मां, रति सुख देने वाली पत्नी और सेवा करने वाली बहू तीन भिन्न-भिन्न औरतें नहीं होतीं। एक ही औरत अलग-अलग भूमिका में मां, पत्नी या बहू कहलाने लगती है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञान ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।१७।।

वह परमात्मा ज्योतियों की भी ज्योति तथा तम से अति परे कहा जाता है। वह ज्ञान ज्ञेय और ज्ञान का लक्ष्य तथा सबके हृदय में विशेष रूप से स्थित है।

किसी भी वस्तु को देखने के लिए सबसे आवश्यक है प्रकाश। प्रकाश न हो तो हम कुछ नहीं देख सकते। प्रकाश हो किन्तु नेत्र न हो तो तब भी नहीं देख पाएंगे। नेत्र हो पर नेत्र में ज्योति न हो तब भी कुछ नहीं हो सकता। नेत्रों की यह ज्योति अर्थात् देखने की क्षमता का कारण आत्मा है जिसके बिना हम प्रकाश का भी अनुभव नहीं कर पाएंगे, हम उजाले और अंधकार में अन्तर भी नहीं कर पाएंगे अतः आत्मा को ज्योतियों की भी ज्योति कहा गया है।

आत्मा हो तो प्रकाश आत्मा न हो तो अंधकार। जैसे हम कहते हैं कि सूर्य निकला तो प्रकाश फैला और सूर्य डूबा तो अंधकार आया किन्तु सूर्य तो अन्धकार से सर्वथा परे है। एक बार अन्धकार ने भगवान से शिकायत की कि सूर्य मुझे टिकने ही नहीं देता। हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ रहता है। सूर्य को बुलाया गया तो उसने हाथ जोड़ कर कहा- भगवान, अन्धकार को तकलीफ पहुंचाने का मेरा कतई इरादा नहीं। मुझसे भूल हो जाती होगी। आप एक बार उसे दिखा दीजिए। एक बार मैं उसे पहचान लूं तो फिर कभी उसे नहीं भगाऊंगा। किन्तु यह संभव नहीं। सूर्य के सामने अंधकार रह ही नहीं सकता।

प्रस्तुत श्लोक में ज्ञान का अर्थ ज्ञान की ज्योति और तमस का अर्थ अज्ञान का अन्धकार है। आत्मा परम ज्ञान स्वरूप और अज्ञान से सर्वथा परे है। यही ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य है। जानने योग्य और बातें हो सकती हैं किन्तु समस्त ज्ञान का लक्ष्य भी भगवान परमात्मा को पहचानना ही बता रहे हैं क्योंकि हर ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्यों के मूल में जाएं तो मूल आनन्द की खोज ही रहती है। एक विद्यार्थी वाणिज्य शास्त्र पढ़ रहा है। पढ़ने का उद्देश्य है भविष्य में व्यवसाय करना। व्यवसाय का उद्देश्य गृहस्थी बसाना और चलाना तथा गृहस्थी का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है। उसे लगता है कि घर परिवार, मकान, व्यवसाय आदि होने से उसे सुख होगा। दूसरा विज्ञान की पढ़ाई कर रहा है। उसका

उद्देश्य व्यवसाय करना, घर बसाना नहीं। वह तो मंगल ग्रह पर जाने की संभावनाओं पर रिसर्च करना चाहता है, किन्तु क्यों? क्योंकि इसी में उसे आनन्द मिलता दिखाई देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी ज्ञान का उद्देश्य मूल रूप से आनन्द है लेकिन यह भी समझ सकते हैं कि कोई भी विद्या ऐसा आनन्द दे ही नहीं सकती जो चिन्ता, टेंशन आदि से प्रदूषित हो ही नहीं और न ही घटे बढ़े। किन्तु यदि अपने समस्त ज्ञान का विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग करते हुए भी उद्देश्य आत्मा के ज्ञान को बनाए रखें तो जो आनन्द मिलेगा वह स्थाई भी होगा और उसमें दुख का लेशमात्र भी नहीं।

भगवान ने परमात्मा को हृदि सर्वस्य विष्ठितम बताया है। परमात्मा सर्वव्यापक तो है ही समस्त जड़ चेतन वस्तुओं, प्राणियों में उसकी उपस्थिति तो है ही किन्तु हृदय में उसकी विशेष अभिव्यक्ति है। जैसे सूर्य का प्रकाश सब जगह समान रूप से विस्तृत होते हुए भी दर्पण आदि में उसके प्रतिबिम्ब की विशेष अभिव्यक्ति होती है इसी प्रकार हृदय परमात्मा की उपलब्धि का स्थान है। हृदय में उसे पहचानने का प्रयत्न करने की प्रेरणा देने के लिए ही परमात्मा को हृदय में विशेष रूप से स्थित बताया गया है।

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के स्वरूप का संक्षेप में वर्णन करने के बाद इस सारे प्रकरण को जानने का फल बताते हुए भगवान कहते हैं-

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।।१८।।

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप में कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्व से जानकर मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

एक बार पुनः भगवान ने ज्ञान और भक्ति को जोड़ दिया है। भगवान का अभिप्राय यह है कि जो आत्मा के स्वरूप का जिज्ञासु है, जो ज्ञान मार्ग का पथिक है वह भी मेरी शरणागति का भाव रख कर चले तो उसे परम पद की प्राप्ति सहज में हो जाती है।

ज्ञान की साधना मुख्यत: साधक अपने पुरुषार्थ के बल पर करता है। वह प्रयत्न पूर्वक अपने राग द्वेष के मल को दूर करने का प्रयास करता है और बार बार विवेक के द्वारा 'मैं शरीर मन बुद्धि नहीं' के भाव को प्रतिष्ठत करने का प्रयत्न करता है किन्तु पुरुषार्थ मूलक होने के कारण इसमें अहंकार वृद्धि की संभावना बहुत अधिक होती जाती है। इससे जितना लाभ होना चाहिए उतना नहीं हो पाता उल्टे नुकसान हो जाता है। यह एंटिबायटिक दवाईयों के लेने से हुए साइड एफैक्ट की भांति है। हम मलेरिया के लिए दवा लेते हैं तो उल्टी की शिकायत शुरू हो जाती है जिसके लिए और दूसरी दवाएं साथ साथ लेना जरूरी है।

ठीक इसी प्रकार ज्ञान के मार्ग पर चलने में केवल अपने पुरुषार्थ का भरोसा करके चलना ठीक नहीं। भक्ति के विटामिन का सेवन करते रहें, 'पुरुषार्थ मेरा हो तो क्या हुआ, फल देने वाले तो भगवान ही हैं' यह भाव परिपुष्ट करते रहें। तादात्म्यता हटाने का प्रयत्न करते करते भी जब सफलता न मिलती जान पड़े तो यह जिद न करें कि आज तो मैं ध्यान से उठूंगा ही नहीं चाहे जो हो जाए, देखता हूं मन एकाग्र कैसे नहीं होता। ऐसी जिद से कोई लाभ नहीं होता। दमन भी होगा और अन्तत: जिद छोड़नी तो होगी ही। अत: अच्छा है कि अपनी संकल्प शक्ति का अहंकार छोड़ प्रभु से प्रर्थाना करें- हे भगवान। मैं कोशिश तो कर रहा हूं पर युगों युगों से जमता हुआ यह राग द्वेष का मल छुटता ही नहीं। प्रभु! मुझमें इतना बल नहीं कि मैं स्वयं को जीत पाऊं। मुझ निर्बल के बल तो तुम ही हो। तुम्हारी कृपा से सब कुछ सम्भव हो सकता है। प्रभु मेरे जाने अनजाने अपराधों को क्षमा करो, मैं तुम्हारी शरण में हूं। मुझे विवेक दो भगवन् कि मैं अपने जीवन के उद्देश्य को समझ कर विषय वासना से दूर रह सकूं।

इस प्रकार प्रयत्न के साथ शुद्ध हृदय से प्रार्थना भी चलती रहे तब जो सफलता मिलेगी तो उसमें अपनी विजय नहीं वरन् प्रभु की कृपा दिखाई देगी तब चित्त पर अहंकार की गर्द नहीं जम पाएगी और परमात्मप्राप्ति सहज होगी।

अब भगवान पुन: क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वभाव और उनकी कार्य प्रणाली आदि का विस्तृत विवेचन आरंभ करते हैं। इस बार उन्होंने नाम

अलग दिए हैं- प्रकृति और पुरुष। वास्तव में ये उनके द्वारा किए गए नामकरण नहीं है। ये नाम पहले से प्रचलित हैं भगवान उनके अर्थ बता रहे हैं कि प्रकृति और पुरुष कहें या क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, बात एक ही है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।।१९।।

प्रकृति और पुरुष, इन दोनों को ही तू अनादि जान। (राग द्वेष आदि) विकारों को और (सत्व रजस तमस) गुणों को तू प्रकृति से ही उत्पन्न जान।

भगवान ने इससे पहले सातवें अध्याय के चौथे और पांचवें श्लोक में अपनी प्रकृति का वर्णन किया था। उन्होंने कहा था कि पंच महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार आदि मेरी अपरा प्रकृति है। दूसरी मेरी परा प्रकृति है जो चेतन है, जिसने समस्त जगत को धारण कर रखा है और जीव रूप में सभी प्राणियों में अभिव्यक्त हो रही है। इस अध्याय में इसी परा प्रकृति को वे पुरुष का नाम देते हैं।

प्रकृति और पुरुष अर्थात् जड़ और चैतन्य दोनों ही परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है, परमात्मा अनादि है अतः ये दोनों भी निश्चित रूप से अनादि हैं। समस्त जीवों के शरीर, इन्द्रियों, प्राण, भोग्य वस्तुएं, भोग, स्थान आदि के रूप में जो कुछ भी दिखाई देता है वह जगत ही प्रकृति है। चेतन तत्व ही जड़ तत्वों में व्याप्त होता है जिससे विभिन्न नाम रूपों वाला यह जगत दिखाई देता है। जब से काल की गणना भी आरम्भ नहीं हुई तभी से दोनों का संयोग चल रहा है। अर्थात् जब से जड़ है तभी से चेतन है। जड़ चेतन के संयोग स्वरूप जीव की उत्पत्ति होने के बाद ही काल की गणना संभव हुई है। अतः जड़ और चेतन अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं।

भगवान फिर से स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि केवल इन्द्रियों द्वारा पकड़ में आने वाले स्थूल रूप ही नही, उनके विकार (इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, संघात, घृति तथा त्रिगुणात्मक स्वरूप) भी प्रकृति के ही विविध अंग है।

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि है- दोनों परमात्मा के ही स्वरूप है फिर भी दो नाम उन्हें दो भिन्न भूमिकाओं के कारण दिए गए हैं। इन भूमिकाओं की भिन्नता का स्पष्टीकरण भगवान अगले श्लोक में करते हैं।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखाना भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।२०।।

कार्य और करण के द्वारा होने वाली क्रियाओं को उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु कही जाती है और सुख-दुख के भोक्तापन में पुरुष हेतु कहा जाता है।

जीव के समस्त क्रिया कलापों में परमात्मा ही कार्य कर रहा है किन्तु भूमिका की भिन्नता के कारण नाम दो हैं- प्रकृति और पुरुष। परमात्मा की वह भूमिका जो कर्म कराती है वह प्रकृति कहलाती है। जो उत्पन्न होता है वह कार्य है। जो कार्य की उत्पत्ति का माध्यम बनता है वह करण कहलाता हैं जैसे वाणी करण है और शब्द कार्य। हाथ करण है और लिखना कार्य है। इस प्रकार पांच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) तथा पांच इन्द्रियों के विषय (शब्द, रस, रूप, स्पर्श, गंध) ये दस कार्य हैं। पांच ज्ञान इन्द्रियां बहि:करण है, मन बुद्धि अहंकार अन्त:करण है।

ये सब कार्य और करण जड़ तत्वों से बने हैं और इनके बीच में कुछ न कुछ क्रियाएं होती रहती हैं। इनको उत्पन्न करने की हेतु प्रकृति है। विषयों को इन्द्रियां ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों को मन नियंत्रित करता है, मन को बुद्धि अनुशासित करती है और जीव इन सब में खोकर इनके साथ तादाम्यता कर इनमें मैं पन जोड़ लेता है। यह समस्त प्रकृति के अन्तर्गत है। यह अपरा प्रकृति है।

इन सब क्रियाओं के कारण सुख या दुख की परिस्थितियां बनती है। सुख की परिस्थिति में मनुष्य खुश होता है दुख की परिस्थिति में दुखी होता है, इसका कारण पुरुष यानी चेतन तत्व बताया गया है। वास्तव में चेतना सुखी-दुखी नहीं होती। वह तो अविकारी, अपरिर्वतनशील है। किन्तु जड़ के साथ जब चेतना का संग होता है तो अहम् भाव की जो उत्पत्ति होती है इसके

कारण सुख-दुख के विकार आरोपित हो जाते हैं। सुख-दुख वास्तव में चेतना में परिर्वतन नहीं लाते। जैसे हम सबका अनुभव है कि हम सुख में भिन्न दुख में भिन्न नहीं हो जाते। सुख-दुख अलग-अलग है पर मैं एक ही हूं इसीलिए तो कभी सुखी कभी दुखी होता हूं। यदि 'मैं' बदलता तो सुखी होने के बाद दुखी नहीं हो सकता। इसीलिए सुख-दुख के भोक्ता भाव का कारण पुरुष है जो स्वयं अविकारी होते हुए भी जड़ की तादात्म्यता के कारण सुख-दुख के भोगों को अपने में आरोपित कर लेता है। इसी बात को भगवान अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुण संगोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु ।।२१।।

प्रकृति में स्थित पुरुष ही प्रकृति जन्य गुणों का भोक्ता बनता है और गुणों का संग ही उसके ऊंच-नीच योनियों में जन्म लेने का कारण माना जाता है।

वास्तव में तो पुरुष यानी आत्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध आनन्द स्वरूप है किन्तु जब उसका संग प्रकृति के साथ हो जाता है तो बात कुछ और ही जान पड़ने लगती है। जैसे महा आकाश सर्वव्यापी है, निराकार है। किन्तु जब हम कहीं चार दीवारें खड़ी कर देते हैं तो उस स्थान को आकाश न कह कर कमरा कहने लगते हैं। तब कमरे में घुटन भी लगती है, सुगंधित धूप जलाने पर हम कहने लगते हैं कमरा (यानी आकाश) सुगंधित हो उठा। वास्तव में आकाश में कोई परिवर्तन नहीं आया है। न दीवारों के खड़ी करने से न धूप जलाने से। दीवारों के कारण आकार आरोपित हो गया, धूप के अणुओं के मिल जाने के कारण सुगंध का गुण आरोपित हो गया। इसी प्रकार आत्मा का संग जब शरीर के साथ हो जाता है तो कमरे की भांति उसका एक विशेष नाम हो जाता है- जीव। और फिर उसमें जड़ प्रकृति के विभिन्न गुण- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख दुख के कार्य आदि आरोपित होते हैं तब ऐसा

लगता है कि जीव इन्हें भोग रहा है।

हमारी आंखें नदी नाले पहाड़ देख रही है यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति के साथ संग है किन्तु पुरुष में जो भोक्तापन आ जाता है वह विभिन्न योनियों का कारण है। जैसे आखों ने कोई दृश्य देखा। बात यहीं तक सीमित रहे तो कोई बात नहीं। लाखों दृश्य रोज हमारी आखों के सामने से गुजरते हैं, हम अप्रभावित रहते हैं। पर किसी-किसी दृश्य के साथ 'संग' हो जाता है और हम उस दृश्य के भोक्ता बन जाते हैं। जैसे सुन्दर लड़की देखी, संग हुआ और पुरुष उलझ गया। दिन भर देखे लाखों दृश्यों में से एक के साथ ही उसके मन में भोक्तापन का भाव आया। कामना हुई उस लड़की को पाने की और फिर तरह-तरह के पापड़ बेलने का सिलसिला चालू हुआ। लड़की को पाना है यह हुआ उद्देश्य और उसके लिए तरह-तरह की भूमिकाएं अदा करनी पड़ी ये हैं मानों योनियां। कभी छैला बाबू का रूप लेकर उसे रिझाना है कभी अत्यन्त सुशील कर्मठ युवक का रूप धर कर उसके पिता को प्रभावित करना है।

इसी प्रकार पुरुष के साथ विभिन्न कार्यों के फलस्वरूप विभिन्न वासनाएं जुड़ जाती है। उद्देश्य है इन वासनाओं की पूर्ति, इसके लिए विभिन्न रूप लेने होंगे क्योंकि कोई भी एक रूप एक साथ इतनी सारी वासनाओं को पूर्ण करने की क्षमता नहीं रखता। उछल-कूद मचाने की वासना के लिए तो बंदर बनना ठीक रहेगा और हर समय खाते रहने की वासना के लिए सुअर की योनी से बढ़िया और कुछ हो ही नहीं सकता। इस प्रकार एक वासना पूर्ति के बाद दूसरी वासना पूर्ति का सिलसिला चलता रहता है, रूप बदलते रहते हैं।

हमने देखा कि जो कुछ भी घट रहा है उसका कारण पुरुष की प्रकृति के साथ तादात्म्यता है। यह तादात्म्यता कम अधिक भी तो हो सकती है। इन विभिन्न स्थितियों में पुरुष की भूमिका क्या होगी यह भगवान अगले श्लोक में बताते हैं-

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।।२२।।

देह में स्थित पुरुष देह से परे और परमात्मा ही है। देह से संबंध रखने से उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर बन जाता है।

सारी मुश्किलें देहात्म भाव के कारण है। देह में स्थित आत्मा का विचार ही नहीं आता। आत्मा के साथ आत्मभाव लाकर देह को अलग करके हम नहीं देख ही नहीं पाते। जैसे-जैसे देखना आरम्भ करते हैं आत्मा यानी पुरुष अलग दिखाई देने लगता है और विकास के हर चरण में प्रकृति के साथ पुरुष का संबंध बदला हुआ नजर आता है।

जब तक आत्मा का विचार आता ही नहीं, शत प्रतिशत तादात्म्यता शरीर के ही साथ रहती है तब तक मनुष्य शरीर की क्रियाओं में ही तल्लीन रहता है, शरीर के सुख के लिए ही लड़ता झगड़ता, रोता, पीटता है। अपने भौतिक सुखों को ही महत्व देता है और उसके लिए वह दूसरे की जान भी ले सकता है। पांच रुपए के लिए दूसरे की हत्या करने वालों के लिए हम सोचते हैं न- क्या इनके पास आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है। भगवान कहते हैं- 'है, लेकिन ऐसे लोगों की देह में स्थित पुरुष केवल उपद्रष्टा यानी देखते रहने वाला है। वह आवाज नहीं देता।'

जब मनुष्य थोड़ा जागता है, उसे भान होता है कि अरे, मैं तो मनुष्य होकर भी पशु की भांति जीवन बिता रहा हूं तब वह विचार करने लगता है। तब उसमें नैतिकता जागती है। वह उचित अनुचित का विवेक करने लगता है। तब दैहिक सुख को सर्वोपरि मानने की प्रवृत्ति कम होती है यानी देह के साथ तादात्म्यता बीस प्रतिशत कम होती है। तब देह में बैठा पुरुष केवल चुपचाप देखता नहीं, अन्दर से अनुमोदन करता है। भीतर से शाबास! खूब! लगे रहो! की आवाजें आती हैं। आत्मा उपद्रष्टा न रह कर अनुमन्ता बन जाता है। इससे हमारा मनोबल बढ़ता है और हम भोगमय जीवन को छोड़ नैतिक जीवन अपनाते हैं।

देहात्मता को छोड़ कर आत्मा के साथ एकात्मता का प्रयास चल रहा है। अब देह के साथ तादात्म्यता चालीस प्रतिशत कम हो गई है, साधक मन के मैल धोने के प्रयास में लगा हुआ है पर उसे लगने लगता है कि उसका बल पर्याप्त नहीं। जब तक यह अनुभव न हो तब तक प्रार्थना का

मर्म समझ में नहीं आ सकता। अब वह प्रार्थना करता है- 'प्रभु मेरी शक्ति चुक गई है। इन वासनाओं के मेले में राग द्वेष की भीड़ इतनी अधिक है कि मेरे कदम ठीक-ठीक पड़ ही नहीं पाते। अब तो मुझमें इतना बल भी नहीं बचा कि तुम्हारे हाथ थाम पाऊं। अब तो तुम ही मेरा हाथ थाम कर मेरे लड़खड़ाते कदमों को सहारा दो। तुम्हारे बिना मुझे देखने संभालने वाला दूसरा कोई नहीं है प्रभु!' आर्त भाव से द्रौपदी की भांति पुकार उठती है तो कृष्ण अपनी शय्या पर लेटे नहीं रह सकते। तब परमात्मा केवल शाब्दिक शाबाशी नहीं देता। तब वह सहायता के लिए दौड़ा आता है। जो कार्य मनुष्य को अपने बल की सीमा से बाहर नजर आता है वह चमत्कारिक रूप से होने लगता है। प्रार्थना पर बहुत ज्यादा बल महात्मा गांधी ने दिया है और उनके जीवन में हम देखते हैं कि एक दुबला पतला शर्मीला युवक करोड़ों को अपनी हुंकार से जगा देता है और अंग्रेजी सत्ता को नाकों चने चबवा देता है। देह के अन्दर स्थित पुरुष अनुमन्ता से भर्ता-सब तरह का सहायक बन जाता है। भक्त के अधूरेपन को पूरा करने के लिए दौड़ता है वह। तब वह द्रौपदी का चीर बनता है, कबीर की चादर बुनता है और नरसी मेहता के लिए भात भरता है।

इसके बाद आती है वह स्थिति जब भक्त को अपने अन्दर बैठे भगवान का आभास अधिकाधिक होने लगता है। उसे लगता है- 'मैं कहां कर रहा हूं- वही तो करवा रहा है।' 'मेरी बुद्धि करा रही है,' के स्थान पर 'भगवान करा रहे हैं' का भाव आ रहा है। देह मन बुद्धि से तादात्म्यता अब साठ प्रतिशत कम हो गई है। कर्तापन का अहंकार जाता रहा है तब वह कहता है- तूने कराया तो अब तू ही भोग। समस्त कर्म फल परमात्मा को अर्पित होने लगते हैं। देह स्थित पुरुष अब भर्ता बन जाता है। जीव दुख-सुख के उद्वेगों से उपर उठने लगता है।

देह से तादात्म्यता अब अस्सी प्रतिशत कम हो गई है। जीवन का परम ध्येय भी परमात्मा ही जान पड़ने लगा है। अपने अन्दर स्थित कर्ता भोक्ता के रूप में परमात्मा स्पष्ट जान पड़ने लगा है। जीवन की सारी हलचल परमात्ममय हो गई है। ऐसे साधक के जीवन का महेश्वर बन जाता है वह परम पुरुष। 'जो है वही है, मैं कुछ नहीं।' अब तो देह का पर्दा ही बाकी

रहा है, अहंकार का झीना आवरण बचा है बस।

और अंत में यह भी हट गया। जीव और शिव, आत्मा और परमात्मा बिल्कुल एक हो गए। साधक सिद्ध हो गया। देह से तादात्म्यता पूरी तरह छूट गई परमात्मा के साथ तादात्म्यता पूरी हो गई। तब सिद्धार्थ भगवान बुद्ध बन जाते हैं निमाई चैतन्य महाप्रभु हो जाते हैं और गदाई रामकृष्ण परमहंस बन जाते हैं, एक गड़ेरिया ईसा मसीह बन जाता है जिसके हृदय में उनके लिए भी क्षमा प्रार्थना है जो उनके हाथ पैरों में कीले ठोंक रहे हैं।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।।२३।।

इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्व से जानता है वह सब प्रकार से वर्तन करता हुआ भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता।

विद्यार्थी को विद्या पढ़ाते समय बीच-बीच में आवश्यक होता है कि उसे उस विद्या से मिलने वाला लाभ भी बताया जाए। भगवान इस अध्यात्म विद्या का लाभ यह बता रहे हैं कि यह पुनः-पुनः विभिन्न योनियों में जन्म लेने और मृत्यु को प्राप्त होने के चक्कर से मुक्ति दिलाता है।

जीव को बार-बार जन्म अपनी वासनाओं के कारण लेना पड़ता है। ये वासनाएं शरीर के साथ तादात्म्यता करने से होती है क्योंकि तब हमें शरीर के सुख-दुख बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण मालूम देने लगते हैं। शरीर मन को ज्यादा से ज्यादा सुख पहुंचाना ही हमें अपना जीवन लक्ष्य मालूम देने लगता है। हम रात दिन परेशान होते हैं लेकिन इन नित्य परिवर्तनशील भोग वस्तुओं के द्वारा नित्य परिवर्तनशील शरीर मन को स्थायी सुख पहुचाना संभव तो है नहीं, अतः उन सुखों की चाह एकत्र होती जाती है और बार-बार जन्म का कारण बनती है। लेकिन जिसने परिवर्तनशील प्रकृति और उसके परिवर्तनशील गुणों को जान लिया है, जिसने यह जान लिया है कि सबके बीच पुरुष अपरिवर्तनशील है और यह सारा खेल पुरुष की प्रकृति के साथ तादात्म्यता के भ्रम से उत्पन्न हुआ है वह स्वयं को पूर्ण रूप से जानता है।

जैसे मैं एक औरत हूं यह बात मैं इतनी अच्छी तरह से जानती हूं कि किसी को याद दिलाने की आवश्यकता नहीं। एक सौ मर्दों के बीच भी उठना-बैठना, कार्य करना पड़े तो मैं 'औरत हूं' का भाव नहीं जाता। उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष के स्वरूप को ठीक-ठीक जान लेने के बाद-'मैं पुरुष अर्थात् आत्मा हूं' यह भाव ज्ञानी के बना ही रहेगा चाहे वह कुछ भी करता रहे। इसीलिए भगवान कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी सब कार्य करते हुए भी देह से तादात्म्यता कभी करता नहीं अत: कर्मों के फलस्वरूप वासना मल एकत्र नहीं होता इसलिए ज्ञानी मुक्त हो जाता है।

अब इस परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए विभिन्न साधनों की चर्चा भगवान करते हुए कहते हैं:-

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।२४।।

कुछ तो ध्यान के द्वारा आत्मा से आत्मा में आत्मा को देखते हैं, अन्य कितने ही सांख्ययोग के द्वारा और कितने ही कर्मयोग के द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।

ध्यान योग हो या सांख्य योग अथवा कर्मयोग, अन्तिम लक्ष्य है आत्मा को देखना अर्थात् जानना। यहां भगवान ने आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा को देखने की बात कही है। गीता में इस प्रकार की भाषा और भी कई स्थान पर दिखलाई देती है जहां एक ही साथ आत्मा के भिन्न-भिन्न प्रयोग और भिन्न-भिन्न अर्थ है। 'आत्मा से' का अर्थ है निर्मल बुद्धि से, 'आत्मा में' का अर्थ है हृदय में और 'आत्मा को' देखने का अर्थ है परमात्मा को पहचानना। सारांश यह है कि ध्यान करने वाला स्वयं ही अपने आप में अपने सत्य स्वरूप को जान लेता है।

ध्यान योग का अर्थ है चित्त को समस्त सांसारिक वस्तुओं से, अपने मन से और बुद्धि से भी निर्लिप्त कर आत्मा में केन्द्रित करना। जैसे-जैसे चित्त विषयों तथा मन बुद्धि से निर्लिप्त होता है वैसे-वैसे आत्मा के साथ उसकी तादात्म्यता बढ़ती है और फिर वह क्षण आता है जब तादात्म्यता पूर्ण हो जाती

है। वह अपने आप को पहचान लेता है। किन्तु ध्यान के लिए तो बहुत निर्मल बुद्धि, बड़ा एकाग्र मन चाहिए। मन बुद्धि पर वासना का दबाव हो तो तादात्म्यता हटेगी नहीं।

जिनका चित्त इतना निर्मल नहीं वे सांख्य योग का सहारा लेते हैं। सांख्य योग का अर्थ है ज्ञान मार्ग अर्थात् विचार द्वारा सत्य को जानने का प्रयत्न करना। जिसके हृदय में विषयों के लिए कुछ-कुछ राग है, जिसे अपने मन की भवनाएं महत्वपूर्ण लगती है, जिसे अपने विचारों, आदर्शों, योजनाओं और संकल्पों से लगाव है उसे तो शास्त्रों का अध्ययन, मनन करके ही समझना होगा कि यह सब मिथ्या जंजाल है। तभी वह अपने आप को इसने मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील होगा।

यदि वासना का दबाव बहुत ही ज्यादा हो जैसे हम संसारी गृहस्थ हैं तो हमारा मन इतनी-इतनी वस्तुओं व्यक्तियों में इतना उलझा हुआ रहता है कि विचार के लिए जो एकाग्रता चाहिए वह भी नहीं आती। भगवान कहते हैं कि ऐसे लोग कर्मयोग के द्वारा आत्म ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं।

कर्मयोग में यह सुविधा है कि हमें अपनी गृहस्थी, अपना व्यवसाय, अपने प्रिय लगने वाले व्यक्तियों को कुछ देर के लिए भी छोड़ने की आवश्यकता नहीं। दिन भर कारखाने दुकान मैं बैठने वाला व्यक्ति सोच सकता है कि सत्संग अध्ययन के लिए समय ही कहां मिलता है कि कुछ ज्ञान की बातें जानें। आखिर अपनी जिम्मेदारी तो निभानी होगी। कर्तव्य त्याग का उपदेश तो धर्म भी नहीं देता। गृहस्थी की जिम्मेदारी में इतना समय निकलता है फिर भी जिम्मेदारियों को पूरा नहीं कर पाते, चाह कर भी एक घंटे बच्चे की पढ़ाई तक नहीं देख पाते, स्वयं कहां पुस्तकें लेकर पढ़ पाएंगे? कर्मयोग के लिए तो आधे घंटे का भी समय अलग से निकालने की जरूरत नहीं। कोई भी जिम्मेदारी छोड़ने की जरूरत नहीं। केवल वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति राग द्वेष हटाने का प्रयत्न करते हुए अपनी जिम्मेदारियों को कर्त्तव्य समझकर करने की कोशिश करें। इससे मुझे अमुक लाभ होगा यह बात मन में उभरे तो उसे हटाने का प्रयास करें। परमात्मा की प्राप्ति इसी से हो जाएगी ऐसा भगवान ने अपने श्रीमुख से कहा है।

कर्म योग के लिए भी कुछ तो विवेक विचार चाहिए ही। जो इतने

मंद बुद्धि हैं कि राग, द्वेष, फलासक्ति आदि सूक्ष्म बातों को समझ भी नहीं पाएं वे भी मुक्त हो सकते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।२५।।

परन्तु इनसे दूसरे जो इस प्रकार नहीं जानते हुए दूसरों से (तत्व ज्ञानियों से) सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं वे श्रवण परायण पुरुष भी मृत्यु संसार सागर को तर जाते हैं

मुक्ति के लिए शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक नहीं। यह जानने से कुछ नहीं होता कि शरीर किन-किन महाभूतों से बना है, वासना किस प्रकार चित्त को आवृत्त करती है, प्रकृति के तीन गुण कौन-कौन से हैं, फलासक्ति किस प्रकार बंधन में डालती है इत्यादि-इत्यादि। असल बात तो व्यवहार में उतारने की है। इनका ज्ञान तो इसलिए आवश्यक है कि तब हम व्यवहार में उतार पाएंगे, किन्तु जो इन सूक्ष्म बातों को इतने विस्तार से नहीं समझ सकता उसे यदि ज्ञानी पुरुष उसके अनुकूल साधना पद्धति बता दें और उसी सुनी हुई बात को दृढ़ता से धारण कर वह उसके अनुसार उपासना करे तो वह मुत्यु संसार से तर सकता है।

हम लोगों में गोपाल भाई की कथा अत्यन्त प्रचलित है। नन्हें, अबोध, पितृहीन बालक को वन से होते हुए पाठशाला जाने में भय लगता था तो माता ने कहा कि तुम गोपाल भाई को पुकार लिया करो। मां की बात बालक के हृदय में दृढ़ता से बैठ गई और उसने पूरे विश्वास के साथ वैसा ही किया। तीन लोक के स्वामी को गोपाल भाई बन कर आना पड़ा।

ध्रुव भी अबोध था। उसने तो केवल इतना मां से जाना कि वन में तप करने से भगवान मिलते हैं। उसने नारद मुनि के कहे अनुसार तप आरंभ किया और भगवान मिल गए।

वास्तव में ईश्वर प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधाएं दो हैं- पहली है शंका। इसके कारण गुरु द्वारा किए गए उपदेश या निर्देश पर पूरी श्रद्धा और विश्वास

ही नही होता कि उन्हें व्यवहार में उतारने का प्रयत्न करें। शंका न हो, गुरु वाणी या श्रुति वचनों पर श्रद्धा भी हो तो फिर दूसरी बाधा आ जाती है वह है धारणा की कमी। हम प्रयत्न करना आरंभ तो करते हैं पर थककर, ऊबकर या 'और कितनी कोशिश करें' अथवा 'कितना समय लग रहा है, कुछ हो ही नहीं रहा,' सोचकर अपने संकल्प से डगमगा जाते हैं और साधना को अधूरी छोड़ देते हैं।

उपरोक्त दोनों बाधाएं बुद्धिजीवियों, विचारकों को ही अधिक परेशान करती है। जिनकी बुद्धि मंद होती है वे शंका नहीं करते, और एक बार बात जम जाए तो डिगते भी भी जल्दी नहीं। अत: इन दोनों बाधाओं का न होना उनकी अल्पज्ञता की क्षतिपूर्ति कर देता है और उन्हें भी भगवान मिल जाते हैं।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।२६।।

हे भरत श्रेष्ठ, जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न जान।

जो चल फिर नहीं सकता स्थिर रहता है उसे स्थावर कहत हैं। जैसे वृक्ष, पहाड़ आदि और देवता, मनुष्य पशु-पक्षी इत्यादि चलने फिरने वाले प्राणी जंगम कहलाते हैं। स्थावर जंगम के अन्तर्गत सम्पूर्ण सृष्टि आ जाती है। भगवान कहते हैं कि सब कुछ प्रकृति और पुरुष के संयोग से बना है। प्रकृति और पुरुष अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भी तत्वत: एक ही है। उसी परमात्मा का संयोग जब तीन गुणों के साथ रहता है तो वह प्रकृति कहलाता है और प्रकृति के बाह्य आवरण में अवस्थित वह परमात्म तत्व प्रकृति को चेतना प्रदान करता है तो उस भूमिका में वह पुरुष कहलाता है। यही पुरुष या क्षेत्रज्ञ विभिन्न योनियों में भिन्न भिन्न आवरण धारण करता है जिसके कारण यह विविधतापूर्ण जगत दिखलाई दे रहा है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।२७।।

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब भूतों में परमेश्वर को नाश रहित और समभाव से स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।

हम जरा भी विचार करें तो यह तो समझ में आ ही जाता है कि मेरा शरीर बदला, लेकिन मैं तो वही हूं, मेरे सुन्दर घुंघराले बाल समाप्त हो गए, लेकिन मैं तो समाप्त नहीं हुआ। पर विचार करने से कुछ देर के लिए यदि ज्ञान हो तो उसे जानना कह सकते हैं, देखना नहीं।

जैसे किसी बच्चे ने पुस्तक में आस्ट्रेलिया के किसी पक्षी के बारे में पढ़ा। उसका रंग गुलाबी आभा लिए हुए नीला होता है, उसकी चोंच सामने से पैनी, पर कुछ मुड़ी हुई होती है। उसके पैर पीले रंग के धारीदार होते हैं। उसकी गर्दन लम्बी होती है, इत्यादि। यह सारा वर्णन उसने खूब अच्छी तरह रट लिया। परीक्षा भी दी। शत-प्रतिशत नंबर भी पा लिए, पर छः महीने बाद शायद उसे शंका हो जाए कि रंग गुलाबी आभा लिए हुए नीला था या नीली आभा लिए गुलाबी था? धारियां उसके पैर पर थी या गर्दन पर। पर यदि उसे आस्ट्रेलिया जाने का अवसर मिला और उसने उस पक्षी को देख लिया तो कितने भी वर्ष बीत जाएं, उसके रंग आकार वगैरह के बारे में उसे कभी भी किंचित मात्र भी शंका नहीं होगी। यदि किसी मित्र से विवाद छिड़ा तो वह कहेगा- 'मैंने उसे देखा है भाई।'

अर्थात् देखने का अर्थ है- पूर्णतः शंकारहित ज्ञान, जिसकी कभी भी विस्मृति न हो। ध्यान करते समय तो सोचते हैं यह मेरी कामना है, मैं नहीं हूं, किन्तु बाकी समय भूल जाते हैं। कामना पूरी नहीं हुई तो हमें अधूरापन लगता है। घुंघराले बाल गिरने लगते हैं तो हमें लगता है हम तो मरे।

इसीलिए भगवान कहते हैं कि जिसका आत्मभाव कभी लुप्त नहीं होता, जिसकी तादात्म्यता देह, मन, बुद्धि से कभी नहीं होती, वह देखता है। वह 'देखता' है कि नष्ट तो बाहरी आवरण हो रहा है, उसमें स्थित आत्मा नहीं। वह और क्या 'देखता' है, यह बताते हुए भगवान कहते हैं:-

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।२८।।

जो पुरुष सबमें समभाव से स्थित परमेवर को समान देखता हुआ अपने द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता वह परम गति को प्राप्त करता है।

आत्मज्ञानी पुरुष केवल प्रकृति के बदलते रूप आकारों में न बदलने वाली आत्मा को ही नहीं देखता वह यह भी देखता है कि सब आकारों में स्थित आत्मा अलग-अलग नहीं है। स्थूल बुद्धि से तो यह बात समझ में ही नहीं आ सकती कि गोपाल के शरीर में रहने वाली आत्मा और गोविन्द के शरीर में रहने वाली आत्मा एक कैसे हो सकती है। यह बात तो कुछ-कुछ आकाश के उदाहरण से ही समझ में आती है कि दो कमरों के अन्दर का आकाश दो भिन्न आकाश नहीं हैं क्योंकि दोनों ही बाहरी महाकाश से अभिन्न हैं। उनकी भिन्नता तो दीवारों के कारण उत्पन्न हुआ भ्रम है।

सब प्राणियों में एक परमात्मा है यह एक सच्चाई है और उस सच्चाई को जानना आवश्यक है। जैसे एक व्यक्ति आफिस में जाता है तो बहुत से लोग मिलते हैं। उसके लिए यह जानना आवश्यक है कि यह मेरा बॉस है, यह मेरा चपरासी है, यह मेरा सहकर्मी है। यदि सबकी सच्चाई उसे न मालूम हुई तो वह ऐसा गड़बड़ काम करेगा कि स्वयं अपने पांव पर कुल्हाड़ी मार लेगा। बॉस के कन्धे पर हाथ रख कर बतियाना शुरू कर देगा तो उसकी नौकरी जाते देर नहीं लगेगी।

हम इस संसार में रात-दिन लोक व्यवहार कर रहे हैं पर इस सच्चाई को नहीं जानते कि सबमें वही आत्मा है जो मुझमें है। जानते भी हैं तो 'देखते' नहीं इसी के कारण हमारा व्यवहार जैसा होना चाहिए वैसा नहीं होता और दुख हमें ही भोगने पड़ते हैं। नाश तो हमारा ही होता है। हम अपना नाश अज्ञान के कारण स्वयं कर रहे हैं। जैसे कि मेरे हाथ और पैर में स्थित 'मैं' वही हूं। यह हम जानते नहीं 'देखते' हैं। हमें कभी भी क्षण मात्र के लिए भी इसमें शंका होनी संभव ही नहीं। इसलिए हाथ की तकलीफ में पैर और पैर की

तकलीफ में हाथ भरपूर सहायता करते हैं। कल्पना करें कि हमारा ज्ञान विलुप्त हो गया। तब पैर में कांटा गड़ा तो हाथ कहेगा मैं क्यों निकालूं। हाथ जल गया तो पैर कहेगा मैं क्यों डाक्टर के पास दौड़ूं। नाश हमारा ही होगा। ऐसा ही नाश हमारा क्षण-क्षण हो रहा है क्योंकि हम सबको पराया मानते हैं।

प्रकृत्येव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।।२९।।

और जो पुरुष संपूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किए जाते हुए देखता है और आत्मा को अकर्ता ही देखता है वही (यथार्थ) देखता है।

पिछले तीन श्लोकों में भगवान ज्ञान दृष्टि का वर्णन कर रहे हैं। ज्ञानी को दूसरे के द्वारा बताए जाने की आवश्यकता नहीं होती, वह तो मानो प्रत्यक्ष देखता है कि सभी प्राणियों में परम पुरुष है जो उसके नष्ट हो जाने पर भी स्वयं नष्ट नहीं होता तथा सभी प्राणियों की अत्मा भिन्न-भिन्न नहीं परंतु एक ही परमात्मा है। तब यह प्रश्न उठ सकता है कि जब परमात्मा एक ही है तो फिर कर्मों में इतनी विभिन्नता क्यों है। क्यों हमें एक ओर महात्यागी और दूसरी ओर महापापी दिखाई पड़ते हैं। क्यों एक व्यक्ति भगत सिंह है और दूसरा जयचंद।

यह प्रश्न हमें शंका में डाल सकता है लेकिन ज्ञानी को नहीं। इस श्लोक में भगवान यह बता रहे हैं कि ज्ञानी को यह भी दिखाई दिखाई देता है कि आत्मा की उपस्थिति के कारण सब कार्य होते दिखाई देते हैं हुए भी वास्तव में आत्मा अकर्ता ही है। कर्म केवल प्रकृति में ही हो रहे हैं तथा कर्मों की विभिन्नता का कारण प्रकृति से बने उपकरणों, उपाधियों की भिन्नता है।

जैसे विद्युत शक्ति एक ही है, वह रेडियो में प्रवाहित होती है तो शब्द सुनाई देते हैं, बल्ब में प्रवाहित होती है तो प्रकाश दिखाई देता है। एक ही शक्ति की दो बिल्कुल भिन्न अभिव्यक्तियां हैं। बल्ब भी एक कम पावर का

हो दूसरा अधिक पावर का इसका अर्थ यह नहीं कि पहले में बिजली दूसरे प्रकार की है। बिजली वही है पर उपकरणों की भिन्नता है। आत्मा तो इसी बिजली की भांति सबको चेतना देने वाली है। यह कार के पट्रोल की भांति है। पेट्रोल पम्प पर एक खटारा पहुंचे और एक नई मारुति, तो दोनों में पेट्रोल एक ही डाला जाएगा। खटारा गाड़ी वाले की धक्के खा-खाकर चल रही है। बगल से मारुति फर्राटे से साथ निकल जाती है और खटारा वाला कार पेट्रोल पंप वाले को कोसने लगे तो आप क्या कहेंगे? आगे जाकर मारुति एक बच्चे को कुचल देती है। ड्राइवर को पकड़ लिया जाता है। केस होता है। अपनी सफाई में वह कहता है- 'मी लार्ड, कुसूर पेट्रोल का है। पेट्रोल से ही तो गाड़ी चलती है। पट्रोल को सजा मिलनी चाहिए। मुझे नहीं।' आप क्या कहेंगे?

पेट्रोल कार के चलने का मूल कारण होते हुए भी अकर्ता है। पेट्रोल के कारण कार में गति आती है पर वह धक्के खाते हुए चलेगी कि फर्राटे के साथ, यह उसके उपकरणों पर निर्भर है। वह गंतव्य तक पहुंचाएगी कि मासूम बच्चे को कुचलने के कारण जेल ले जाएगी, यह उसके चलाने वाले पर निर्भर है। इसी प्रकार आत्मा का कार्य चेतना प्रदान करना, शरीर को हिलने-डुलने की क्षमता, मन बुद्धि को सोचने की शक्ति देना है। अब शरीर सुस्ती से हिलता है या फूर्ति से, यह तो प्राकृतिक पदार्थों से बने शरीर की पुष्टता पर निर्भर करता है। ये हाथ किसी को दान देते हैं या किसी का गला काटते हैं, यह तो हाथ के ड्राइवर यानी बुद्धि पर निर्भर करता है। शरीर ,मन बुद्धि, तीनों ही परिवर्तनशील है। तीनों ही प्रकृति के अन्तर्गत हैं। पुरुष तो समस्त क्रियाओं का ज्ञाता और अकर्ता ही है।

इस प्रकार की दृष्टि जिसे मिल गई उसे ही संसार को और अपने आपको सही-सही देखना और आंकना आया है। फिर वह बुराई करके कभी नहीं कहेगा कि 'भगवान ने मुझसे बुरा काम करवाया मैं कौन होता हूं करने वाला?' 'सब कुछ कहने वाला भगवान है' वाक्य का बहुत नाजायज प्रयोग करते हैं हम लोग। ऐसा करना आत्म प्रवंचना है। दूसरों को नहीं अपने आप को छलते हैं हम।

इस प्रकार आत्मा को अकर्ता समझने की महिमा बताकर अब आत्मा

के साथ एकत्व के दर्शन का फल बताते हुए भगवान कहते हैं:-

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।३०।।

जिस क्षण यह पुरुष भूतों के पृथक्-पृथक् भाव को एक परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मा से सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानंद घन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

जब कोई मां बच्चे के स्कूल में जाती है जहां उसके बच्चे ने किसी नाटक में भाग लिया है तो दूसरे सैकड़ों दर्शकों के साथ बठी हुई मां वह नहीं देखती जो दूसरे देखते है। बाकी सब सम्राट अशोक को देखते हैं पर उसे दीखता है- 'मेरा राजू।' सम्राट अशोक की राजसी पोशाक, उसका भव्य मुकुट वगैरह उसके लिए महत्व की बात बिल्कुल नहीं होती। उसके लिए महत्व एक ही बात का है- इस पोशाक को पहन कर अभिनय करने वाला मेरा राजू है। मेरे राजू ने बहुत बढ़िया अभिनय किया। सम्राट अशोक के स्थान पर यदि राजू एक भिखारी के वेश में होता तब भी उसकी दृष्टि यही होती।

इस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि हम सबसे भिन्न होती है। उसकी दृष्टि में प्राणियों के तन मन की पुष्टता का महत्व नहीं होता। कोई गुणवान है या गुणहीन यह भी वह नहीं देखता। उसे तो केवल दिखलाई देता है परमात्मा, जो उसका है और विभिन्न भूतों के रूप में विभिन्न प्रकार के अभिनय कर रहा है। वह देखता है कि सब प्राणी एक परमात्मा में ही स्थित है और उसी से विस्तार पाते हैं। ऐसी स्थिति जब हो जाती है तो भगवान कहते हैं कि वह प्राणी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति का अर्थ ही यह है कि हम सृष्टि के कण-कण में ब्रह्म को देख पाएं। यदि मूर्ति में तो दीखे पर पड़ोसी में ब्रह्म की उपस्थिति का आभास न हो तो पूजा करते समय ब्रह्म से योग रहेगा लेकिन पड़ोसी से बात करते समय तो ब्रह्म छूट जाएगा। ऐसी अनिश्चित स्थिति को ब्राह्मी स्थिति नहीं कहते। यह तो अखण्ड आनन्द

का ऐसा अनुभव है जो कम-अधिक नहीं होता। सबमें ब्रह्म, सभी ब्रह्ममय दिखलाई देने लगे तब तो निश्चित रूप से स्थाई और आत्यन्तिक सुख की अनुभूति होगी और कुछ पाना शेष नहीं रह जाएगा।

सबमें ब्रह्म ही दिखलाई देने लगे तो क्या दुराचारी में दुराचारी ब्रह्म और परोपकारी में परोपकारी ब्रह्म दिखलाई देगा? क्या ऐसा लगेगा कि ब्रह्म अमुक से चोरी करा रहा है और अमुक से दान? भगवान ने पहले भी कहा है कि ऐसा नहीं है। ब्रह्म सभी की क्रियाओं का कारण होते हुए भी वास्तव में अकर्ता है। इस बात को वे अगले तीन श्लोक में उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कर देते हैं।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।३१।।

हे अर्जुन, अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।३२।।

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता है वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होने के कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता।

आकाश का अर्थ है- वह जो सबको स्थान देता है। यह सूक्ष्म है इसलिए व्यापक है। जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होगी उतनी ही व्यापक होगी। जैसे बर्फ ठोस है, स्थूल है अतः इसका बिल्कुल ही सीमित स्थान है। वही बर्फ पिघल कर जल बन जाती है तो कुछ सूक्ष्मता प्राप्त कर लेती है तब वह जल फर्श पर इधर-उधर फैल जाता है। जल सब वाष्प बन जाता है तो और सूक्ष्म हो जाता है और पूरे कमरे में फैल जाता है। अगरबत्ती की सुगंध पड़ोसी

के घर तक चली जाती है। हम जो कुछ भी देख रहे हैं उसमें सबसे सूक्ष्म आकाश है अतः भगवान ने आकाश का उदाहरण दे दिया ताकि हमारी स्थूल बुद्धि से हम कुछ तो आभास पा सकें। बाकी तो साधना पर निर्भर करता है शब्द ज्ञान पर नहीं।

आकाश का अर्थ हवा नहीं है। यह स्थान है जिसमें सभी वस्तुएं है और जो सभी वस्तुओं में है। हवा भी आकाश में है। आती है, चली जाती है, गर्म हवा बहती है कभी ठंडी हवा किंतु आकाश वैसा ही है। आकाश की इस निर्लिप्तता का कारण उसी सूक्ष्मता है।

आकाश में हम कुर्सी रख देते हैं, फिर कुर्सी को हटाकर टेबल रख देते हैं, यदि कुर्सी रखने पर आकाश प्रभावित होता है तो उसमें परिवर्तन आ जाता, फिर टेबल नहीं रखी जा सकती थी। एक दीवार बनाते हैं, उसे गिराकर उस स्थान पर दूसरी बना देते हैं, आकाश निर्लिप्त ही रहता है क्योंकि दीवार स्थूल है, वह सूक्ष्म को लिपायमान नहीं कर सकती।

इसी प्रकार ब्रह्म अनादि है और निर्गुण है। किसी भी वस्तु के पहले भी ब्रह्म था और उसके ध्वंस के बाद भी ब्रह्म रहेगा- वैसा ही। जो कुछ भी रूप आकार हमें दिखलाई दे रहा है वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति द्वारा निर्मित है और ब्रह्म इन तीनों गुणों से परे है अतः सृष्टि का सारा खेल चलता रहता है पर परमात्मा की तो निर्लिप्तता ही बनी रहती है।

अपनी निर्लिप्तता को एक और उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए भगवान कहते हैं:-

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।३३।।

जैसे एक सूर्य सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है वैसे ही हे भारत! क्षेत्री भी सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

सूर्य न हो तो हमारी सारी व्यवस्था ठप हो जाएं, हमारी समस्त क्रियाएं रुक जाएं। रात को सब सोते रहते हैं। भोर में सूर्य की किरणों के स्पर्श से

ही नाना प्रकार की क्रियाएं आरम्भ हो जाती हैं। हम कहते हैं- सूर्य हमें जगाता है, सूर्य फूलों को खिलाता है, सूर्य मुर्गे से बांग लगवाता है, सूर्य अधंकार को दूर भगाता है। किन्तु विचार करें कि सूर्य ने इन सबमें कौन सा कार्य किया? क्या उसने हमें बिछौने में झकझोरा? क्या उसने फूलों के पास आकर एक-एक कर उसकी पंखुड़ियों को खींचा? क्या उसने मुर्गे को कान पकड़ कर उठाया? क्या वह अधंकार के पीछे डंडा लेकर दौड़ा? उसने कुछ भी नहीं किया फिर भी हम कहते हैं कि सूर्य न हो तो कुछ भी न हो ।

एक ही सूर्य है जो अच्छे-बुरे, सुन्दर-असुन्दर, स्वच्छ-अस्वच्छ, उत्कृष्ट, निकृष्ट सभी को समान रूप से प्रकाशित करता है। उसके द्वारा सदाचारी और दुराचारी को दिए जाने वाले प्रकाश में भी कोई अन्तर नहीं। लेकिन गंदगी में पड़ कर सूर्य की किरणें गंदी नहीं होती, जल का स्पर्श कर भीगती नहीं, पापी के संसर्ग में आकर पाप से लिप्त नहीं होती। इसी प्रकार हमारा क्षेत्री है। वह हमारी इंन्द्रियों और अन्त:करण को प्रकाशित करता है, उन्हें कार्य शक्ति देता है पर मन की दुर्भावनाओं, बुद्धि की उलझनों और शरीर के द्वारा किये गए पाप कर्मो से वह बिल्कुल निर्लिप्त रहता है। यह केवल प्रकाशित करता है। आत्मा का प्रकाश हमारी इंन्द्रियों, मन, बुद्धि पर पड़कर सब कुछ करवाता है। वह सबका कर्ता होते हुए भी वास्तव में अकर्ता ही है। अन्त में उपसंहार करते हुए भगवान कहते हैं-

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।३४।।

जो ज्ञान चक्षु के द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को तथा कार्य सहित प्रकृति से मुक्त होने को तत्व से जान लेते हैं वे परम ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

जैसे स्वप्न देखने के बाद मनुष्य को जब जाग्रत अवस्था का ज्ञान हो जाए, जब स्वप्न देखने वाले को पता चल जाए कि मैं तो परीक्षा देने वाला नहीं, लेने वाला हूं तो परीक्षा का यानी स्वप्न का भय या दु:ख तत्काल मिट जाता है उसी प्रकार जब हम अपने शरीर के प्रति जाग जाते हैं, यह जान

जाते हैं कि मैं तो दु:ख, कष्ट भोगने वाला शरीर, रोने पीटने वाला मन नहीं हूं, मैं तो इनका परीक्षक, निरीक्षक, द्रष्टा हूं तो ये सारे दु:ख हमें पड़ोसी के दु:ख के समान जान पड़ने लगते हैं। एक बार सहानुभूति में आंसू बहा लिए फिर लग गए अपने काम में ।

जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ की विलक्षणता को समझ कर साथ-साथ यह भी समझ लेता है कि अज्ञानवश क्षेत्र को सच्ची वस्तु समझने के कारण मेरा इससे तादात्म्य हो गया था किन्तु मेरा वास्तविक स्वरूप तो परब्रह्म है, तो ऐसे भाव का उदय होना ही मानो जाग जाना है।

हम अपनी तीन अवस्थाओं से परिचित हैं। सुषुप्ति में तो कोई अनुभव होता ही नहीं, अत: उसकी चर्चा करने की ही आवश्यकता नहीं। स्वप्न में हम नाना प्रकार के रूप धरते हैं, नाना प्रकार की परिस्थितियों से गुजरते हैं और सुख दु:ख भोगते हैं। अब यदि हम सपने में ही देख रहे हों कि कोई हमसे कह रहा है कि तुम सम्राट अकबर नहीं हो, यह तो सपना है तो उस सपने में हम उसे झूठा कह सकते हैं। हमें उसके कहने का कोई असर नहीं होगा। हम सम्राट अकबर बन राणा प्रताप से लड़ते रहेंगे। हम सम्राट अकबर नहीं, एक मामूली गृहस्थ हैं यह बात हमें तब तक नहीं ठीक-ठीक पता चल सकती जब तक हम जाग न जाएं। जाग जाने पर हम अपने स्वप्न का निरीक्षण कर सकते हैं और समझ सकते हैं कि वह झूठा था। जाग्रत अवस्था में आए बिना स्वप्नावस्था के मिथ्यापन का ज्ञान और स्वप्न के दु:ख-सुख से निवृत्ति हो ही नहीं सकती।

इसी प्रकार जब हम जाग्रत अवस्था में होते हैं तो हमें चारों ओर दिखने वाला संसार, पति, पत्नी, पुत्र, पिता, शत्रु, मित्र सब सच्चे मालूम देते हैं और कोई संत कहता है कि यह जो जाग्रत संसार सच्चा मालूम दे रहा है यह तुम्हारा भ्रम है, यह सब भी झूठा है। तुम जागो, तुम जानो इसके मिथ्यापन को। एक बार जान जाओगे तो फिर इसका दु:ख सुख नहीं व्यापेगा।

किन्तु जैसे सपने में सपने को झूठा नहीं माना जा सकता, जागने पर ही समझा जा सकता है उसी प्रकार जागृति में भी जाग्रत अवस्था के दृश्यमान जगत को झूठा नहीं माना जा सकता है। यह तत्व ज्ञान तो तभी संभव है जब हम इस अवस्था से भी हटें और चतुर्थ अवस्था में पहुंचे जिसे तुरीयावस्था

कहते हैं। हमारे मन बुद्धि से तादात्म्य हटाने पर ही इस अवस्था में प्रवेश सम्भव है और एक बार यह 'जाग' हो जाए तो सारे बंधन छूट जाएंगे, सारी शृंखलाएं टूट जाएंगी, हम मुक्त हो जाएंगे। ब्रह्म विद् ब्रह्म ही हो जाएगा– चिन्मय नित्य शुद्ध बुद्ध परम आनन्द स्वरूप। इसी अवस्था को प्राप्त करना ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

इस प्रकार श्री कृष्ण अर्जुन संवाद में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग नामक त्रयोदश अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्